

# जैन धर्म दर्शन

(भाग - 4)



प्रकाशक : आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चूलै, चेन्नई

# जैन धर्म दर्शन

## (भाग - 4)

मार्गदर्शक : डॉ. सागरमलजी जैन  
प्राणी मित्र श्री कुमारपालभाई वी. शाह  
संकलनकर्ता : डॉ. निर्मला जैन

\* प्रकाशक \*

आदिनाथ जैन ट्रस्ट  
चूलै, चेन्नई

# जैन धर्म दर्शन भाग -4

प्रथम संस्करण : अप्रैल 2012

प्रतियाँ : 3000

प्रकाशक एवं परीक्षा फॉर्म प्राप्ति स्थल

**आदिनाथ जैन ट्रस्ट**

21, वी.वी. कोईल स्ट्रीट,

चूलै, चेन्नई- 600 112.

फोन : 044-2669 1616, 2532 2223

मुद्रक

**नवकार प्रिंटर्स**

9, ट्रिवेलियन बेसिन स्ट्रीट

साहुकारपेट, चेन्नई - 600079.

फोन : 25292233

**\* प्रस्तुत प्रकाशन के अर्थ सहयोगी \***

कुमारी प्रेरणा साकरिया के अट्ठाई के निमित्त  
श्रीमती जीवीबाई मेघराजजी, श्रीमती मीना - नरेन्द्रकुमारजी  
श्रीमती इशा - निशांककुमारजी साकरिया, चेन्नई



स्व. श्रीमती आसीबाई राणुलालजी गुलेच्छा की पुण्य स्मृति में  
श्रीमान् शा राणुलालजी देवराजजी प्रकाशचंदजी  
मदनचंदजी गुलेच्छा चूलै, चेन्नई  
(मरुधर में फलोदी)



## \* अनुक्रमणिका \*

	हमारी बात	1
	आदिनाथ सेवा संस्थान का संक्षिप्त परिचय	2
	सुकृत अनुमोदनम्	3
	अनुमोदन के हस्ताक्षर	4
	प्राक्कथन	5
	प्रकाशकीय	6
1	<b>जैन इतिहास</b>	
	सात निन्हव	8
	जैन आगम साहित्य	14
2	<b>जैन तत्त्व मीमांसा</b>	
	निर्जरा तत्व	20
	बंध तत्व	31
	मोक्ष तत्व	33
3	<b>जैन आचार मीमांसा</b>	
	षडावश्यक	39
	जिन दर्शन पूजन विधि	61
4	<b>जैन कर्म मीमांसा</b>	
	नाम कर्म	76
5	<b>सूत्रार्थ</b>	
	मंदिरमार्गी परंपरा के अनुसार :- सव्वस्सवि सूत्र	94
	इच्छामि ठामि सूत्र	
	पुक्खरवरदीवङ्गे सूत्र	
	सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र	
	वेयावच्चगराणं सूत्र	
	सुगुरुवंदन सूत्र	
	स्थानकवासी परंपरा के अनुसार:- इच्छामि खमासमणो का पाठ	107
	तस्स सव्वस्स	
	बडी संलेखना	
	तस्स धम्मस्स	
	आयरिय उवज्झाए का पाठ	
	क्षमापना पाठ	
	समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ	
6	<b>महापुरुष की जीवन कथाएं</b>	
	आ. श्री हरिभद्रसूरि	115
	साध्वी सुनंदा	118
	परमार्हत महाराजा कुमारपाल	121
	अंजना सती	125
7.	<b>संदर्भ सूची</b>	128
8.	<b>परीक्षा के नियम</b>	129

## हमारी बात

दि. 5.7.1979 के मंगल दिवस पर चूलै जिनालय में भगवान आदिनाथ के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर स्व. श्री अमरचंदजी कोचर द्वारा स्थापित श्री आदिनाथ जैन मंडल अपनी सामाजिक गतिविधियों को आदिनाथ जैन ट्रस्ट के नाम से पिछले 31 वर्षों से प्रभु महावीर के बताये मार्ग पर निरंतर प्रभु भक्ति, जीवदया, अनुकंपा, मानवसेवा, साधर्मिक भक्ति आदि जिनशासन के सेवा कार्यों को करता आ रहा है। ट्रस्ट के कार्यों को सुचारु एवं स्थायी रूप देने के लिए सन् 2001 में चूलै मेन बाजार में (पोस्ट ऑफिस के पास) में 2800 वर्ग फुट की भूमि पर बने त्रिमंजिला भवन 'आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र' की स्थापना की गई। भवन के परिसर में प्रेम व करुणा के प्रतीक भगवान महावीर स्वामी की दर्शनीय मूर्ति की स्थापना करने के साथ करीब 7 लाख लोगों की विभिन्न सेवाएँ की जिसमें करीब 1 लाख लोगों को शाकाहारी बनाने का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।

### आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र में स्थाई रूप से हो रहे निःशुल्क सेवा कार्यों की एक झलक :

- \* 10 विकलांग शिविरों का आयोजन करने के पश्चात अब स्थायी रूप से विकलांग कृत्रिम लिंग सहायता केन्द्र की स्थापना जिसमें प्रतिदिन आने वाले विकलांगों को निःशुल्क कृत्रिम पैर, कृत्रिम हाथ, कैलिपरस्, क्लचेज, व्हील चैर, ट्राई - साईकिल आदि देने की व्यवस्था।
- \* आंखों से लाचार लोगों की अंधेरी दुनिया को फिर से जगमगाने के लिए एक स्थायी फ्री आई क्लिनिक की व्यवस्था जिसमें निःशुल्क आंखों का चेकअप, आंखों का ऑपरेशन, नैत्रदान, चश्मों का वितरण आदि।
- \* करीबन 100 साधर्मिक परिवारों को प्रतिमाह निःशुल्क अनाज वितरण एवं जरूरतमंद भाईयों के उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
- \* बहनों के लिए स्थायी रूप से निःशुल्क सिलाई एवं कसीदा ट्रेनिंग क्लासस एवं बाद में उनके उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
- \* आम जनता की स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु एक फ्री जनरल क्लिनिक जिसमें हर रोज 50 से ज्यादा मरीजों का निशुल्क चेकअप, दवाई वितरण।
- \* प्रतिदिन करीब 200 असहाय गरीब लोगों को निशुल्क या मात्र 3 रुपयों में शुद्ध सात्विक भोजन की व्यवस्था।
- \* दिमागी रूप से अस्थिर दुःखियों के लिए प्रतिदिन निःशुल्क भोजन।
- \* निःशुल्क एक्यूपंकचर, एक्यूप्रेशर, फिसियोथेरेपी एवं नेच्युरोथेरेपी क्लिनिक
- \* जरूरतमंद विद्यार्थियों को निःशुल्क स्कूल फीस, पुस्तकें एवं पोशाक वितरण।
- \* रोज योगा एवं ध्यान शिक्षा।
- \* होमियोपैथिक क्लीनिक
- \* आपातकालीन अवसर में 6 घंटों के अंदर राहत सामग्री पहुंचाने की अद्भुत व्यवस्था।
- \* स्पोकन ईंगलिश क्लास ।



# आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान में होने वाली सम्भवित योजनाओं का संक्षिप्त विवरण

हाल ही में हमारे ट्रस्ट ने चूल्हे के मालू भवन के पास 8000 वर्ग फुट का विशाल भूखंड खरीदकर 'आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान' के नाम से निम्न शासन सेवा के कार्य करने का दृढ़ संकल्प करता है।

## \* विशाल ज्ञानशाला

- \* जैन धर्म के उच्च हितकारी सिद्धांतों के प्रचार - प्रसार के लिए आवासीय पाठशाला...
- \* जिसमें श्रद्धावान मुमुक्षु, अध्यापक, विधिकारक, मंदिर सेवक (पुजारी), संगीतकार, पर्युषण आराधक इत्यादि तैयार किए जाएंगे।
- \* निरंतर 24 घंटे पिपासु साधर्मिकों की ज्ञान सुधा शांत करने उपलब्ध होंगे समर्पित पंडितवर्य व अनेक गहन व गंभीर पुस्तकों से भरा पुस्तकालय।
- \* बालक - बालिकाओं व युवानों को प्रेरित व पुरस्कारित कर धर्म मार्ग में जोड़ने का हार्दिक प्रयास।
- \* जैनोलॉजी में बी.ए., एम.ए. व पी.एच.डी. का प्रावधान।

## \* साधु-साध्वीजी भगवंत वैयावच्च

- \* जिनशासन को समर्पित साधु-साध्वी भगवंत एवं श्रावकों के वृद्ध अवस्था या बिमारी में जीवन पर्यंत उनके सेवा भक्ति का लाभ लिया जाएगा।
- \* साधु-साध्वी भगवंत के उपयोग निर्दोष उपकरण भंडार की व्यवस्था।
- \* ज्ञान-ध्यान में सहयोग।
- \* ऑपरेशन आदि बड़ी बिमारी में वैयावच्च।

## \* वर्षीतप पारणा व आयंबिल खाता

- \* विश्व को आश्चर्य चकित करदे ऐसे महान तप के तपस्वीयसों के तप में सहयोगी बनने सैंकड़ों तपस्वियों के शाता हेतु सामूहिक वर्षीतप (बियासणा), 500 आयंबिल तप व्यवस्था व आयंबिल खाता प्रारंभ हो चुका है।

## \* धर्मशाला

- \* चिकित्सा, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य एवं व्यापार आदि हेतु दूर - सुदूर देशों से पधारने वाले भाईयों के लिए उत्तम अस्थाई प्रवास व भोजन व्यवस्था।

## \* शुद्ध सात्विक जैन भोजनशाला

- \* किसी भी धर्म प्रेमी को प्रतिकूलता, बिमारी या अन्तराय के समय शुद्ध भोजन की चिंता न रहे इस उद्देश्य से बाहर गाँव व चेन्नई के स्वधर्मी भाईयों के लिए उत्तम, सात्विक व स्वास्थ्य वर्धक जिनआज्ञामय शुद्ध भोजन की व्यवस्था।

## \* साधर्मिक स्वावलम्बी

- \* हमारे दैनिक जीवन में काम आने वाली शुद्ध सात्विक एवं जैन विधिवत् रूप से तैयार की गई वस्तुओं की एक जगह उपलब्धि कराना, साधर्मिक परिवारों द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ खरीदकर उन्हें स्वावलम्बी बनाना एवं स्वधर्मीयों को गृहउद्योग के लिए प्रेरित कर सहयोग करना इत्यादि।

## \* जैनोलॉजी कोर्स Certificate & Diploma Degree in Jainology

- \* जैन सिद्धांतों एवं तत्त्वज्ञान को जन - जन तक पहुँचाने का प्रयास, दूर - सुदूर छोटे गाँवों में जहाँ गुरु भगवंत न पहुँच पाये ऐसे जैनों को पुनः धर्म से जोड़ने हेतु 6 - 6 महीने के Correspondence Course तैयार किया गया है। हर 6 महीने में परीक्षा के पूर्व त्रिदिवसीय शिविर द्वारा सम्यक् ज्ञान की ज्योति जगाने का कार्य शुभारंभ हो चुका है।

## \* जीवदया प्राणी प्रेम प्रकल्प योजना

- \* मानव सेवा के साथ - साथ मूक जानवरों के प्रति प्रेम व अनुकम्पा का भाव मात्र जिनशासन सिखलाता है। जिनशासन के मूलाधार अहिंसा एवं प्रेम को कार्यान्वित करने निर्माण होंगे 500 कबुतर घर व उनके दाना-पानी सुरक्षा आदि की संपूर्ण व्यवस्था।

मोहन जैन

सचिव आदिनाथ जैन ट्रस्ट

## ॥ सुकृत अनुमोदनम् ॥

दि. 21.2.2012

अहं

जैन धर्म दर्शन भाग 3 व 4 के काफी अंशों के अनुशीलन का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। डॉ. निर्मलाजी का श्रम व समर्पण इसमें स्पष्ट परिलक्षित होता है। संकलन, संयोजन व प्रस्तुति तीनों ही सुंदर एवं उपयोगी बने हैं। समग्र आलेखन को शास्त्र अविरुद्ध बनाने के लिए भी लेखिका ने जो सतत् जागरूकता पूर्वक प्रयास किया है वह भी साधुवाद के पात्र है और मैंने पाया कि उनका यह प्रयास सफल रहा है।

आदिनाथ जैन ट्रस्ट के तत्वावधान में हो रहा यह प्रयास अपने आप में अलग ही तरह का है। मैं आशा करता हूँ कि पूर्व के भागों की तरह यह भाग भी व्यापक लोक चाहना को प्राप्त करेगा एवं धर्म तत्व के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा परितृप्त कर उन्हें आत्मकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ने में सहायक सिद्ध होगा।

समग्र ट्रस्ट मंडल एवं लेखिका सभी को उनकी इस ज्ञान-ज्योत की यात्रा के सुंदर पूर्णाहुति हेतु अंतः करण से आशीर्वाद देता हूँ। प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि इस समग्र पाठ्यक्रम के भावी संस्करण और भी श्रेष्ठता को प्राप्त करें।

पं. अजयसागर



# अनुमोदन के हस्ताक्षर

कुमारपाल वी.शाह  
कलिकुंड, ढोलका

जैन दर्शन धर्म समस्त विश्व का, विश्व के लिए और विश्व के स्वरूप को बताने वाला दर्शन है। जैन दर्शन एवं कला बहुत बहुत प्राचीन है। जैन धर्म श्रमण संस्कृति की अद्भूत फुलवारी है इसमें ज्ञान योग, कर्म योग, अध्यात्म और भक्ति योग के फूल महक रहे हैं।

परमात्म प्रधान, परलोक प्रधान और परोपकार प्रधान जैन धर्म में नये युग के अनुरूप, चेतना प्राप्त कराने की संपूर्ण क्षमता भरी है। क्योंकि जैन दर्शन के प्रवर्तक सर्वदर्शी, सर्वज्ञ वितराग देवाधिदेव थे।

जैन दर्शन ने “यथास्थिस्थितार्थ वादि च...” संसार का वास्तविक स्वरूप बताया है। सर्वज्ञ द्वारा प्रवर्तित होने से सिद्धांतों में संपूर्ण प्रमाणिकता, वस्तु स्वरूप का स्पष्ट निरूपण, अरिहंतो से गणधर और गणधरों से आचार्यों तक विचारो की एकरूपता पूर्वक की उपदेश परंपरा हमारी आन बान और शान है।

संपूर्ण विश्व के कल्याण हेतु बहुत व्यापक चिंतन प्रस्तुत कराने वाला जैन दर्शन सर्वकालिन तत्कालिन और वर्तमान कालिन हुई समस्याओं का समाधान करता है, इसीलिए जैन दर्शन कभी के लिए नहीं अभी सभी के लिए है।

यहाँ जैन धर्म दर्शन के व्यापक स्वरूप में से आंशीक और आवश्यक तत्वज्ञान एवं आचरण पक्ष को **डॉ. कुमारी निर्मलाबेन** ने स्पष्ट मगर सरलता से प्रस्तुत किया है। स्वाध्यायप्रिय सबके लिए अनमोल सोगात, आभूषण है। बहन **निर्मला** का यह प्रयास वंदनीय है।

ध्यान में रहे इसी पुस्तक का स्वाध्याय ज्ञान के मंदिर में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है।

\*\*\*



## \* प्राक्कथन \*

प्रस्तुत कृति की रचना जन सामान्य को जैन धर्म दर्शन का बोध कराने के उद्देश्य से की गई है। इस पुस्तक में जैन धर्म दर्शन को निम्न छः खण्डों में विभाजित किया गया है। 1. जैन इतिहास 2. तत्त्व मीमांसा 3. आचार मीमांसा 4. कर्म मीमांसा 5. धार्मिक क्रियाओं से संबंधित सूत्र एवं उनके अर्थ और 6. धार्मिक महापुरुषों की जीवन कथाएँ।

जैन धर्म दर्शन को सामान्य जन को परिचित कराने करवाने के उद्देश्य से प्रस्तुत पाठ्यक्रम की योजना बनाई गई। यह पाठ्यक्रम छः सत्रों (सेमेस्टर) में विभाजित किया गया है, इसमें जैन इतिहास, जैन आचार, जैन तत्त्वज्ञान, जैन कर्म, सूत्रार्थ आदि का समावेश किया गया है। मूलतः यह पाठ्यक्रम परिचयात्मक ही है, अतः इसमें विवादात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि को न अपनाकर मात्र विवरणात्मक दृष्टि को ही प्रमुखता दी गई है। ये सभी विवरण प्रामाणिक मूल ग्रंथों पर आधारित है। लेखक एवं संकलक की परंपरा एवं परिचय मुख्यतः श्वेताम्बर परंपरा से होने के कारण उन सन्दर्भों की प्रमुखता होना स्वाभाविक है। फिर भी यथासम्भव विवादों से बचने का प्रयत्न किया गया है।

तृतीय सत्र के पाठ्यक्रम में सर्व प्रथम प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवनकृत वर्णित है। तत्त्वमीमांसा में जैन साधना के प्राण संवर तत्त्व का विवेचन है। इसमें इन्द्रियों और मनोवृत्तियों को संयमित करने की शिक्षा दी गई है। आचार के क्षेत्र में आहार शुद्धि के नियमों और उपनियमों का विवेचन है। इसके अंतर्गत 22 अभक्ष्य का विवेचन किया गया है। कर्म साहित्य में मोहनीय कर्म और आयुष्य कर्म का विवेचन किया गया है। जो प्राणी के सांसारिक अस्तित्व का मूल आधार है। सूत्रों के अंतर्गत मूर्तिपूजक परंपरा के अनुसार चैत्यवन्दन और विविध स्तुति और स्तोत्र दिये गये हैं। कथा साहित्य के अंतर्गत आचार्य हेमचंद्र, साध्वी लक्ष्मणा के साथ भरत - बाहुबली और सती सुभद्रा के कथानक वर्णित है।

चतुर्थ सत्र में सर्वप्रथम जैन धर्म के सात निन्हव और जैनागम साहित्य के परिचय के साथ - साथ उसकी विविध वाचनाओं का विवेचन है। तत्त्वों में निर्जरा, बंध एवं मोक्ष तत्त्व का विवेचन है। आचार के क्षेत्र में षट् आवश्यक, 12 प्रकार के तप एवं समाधिमरण की चर्चा की गई है। साथ ही मूर्तिपूजक परंपरा की पूजा विधि का भी विवरण है। कर्मों में नामकर्म का विस्तृत विवेचन है, जो जीव की विविध शारीरिक संरचनाओं के लिए उत्तरदायी है। सूत्रों में षट् आवश्यक (प्रतिक्रमण सहित) के कुछ महत्वपूर्ण सूत्रों की चर्चा की गई है और उनके सूत्रार्थों का स्पष्टीकरण किया गया है। अंत में कथा साहित्य में आ. श्री हरिभद्रसूरिजी, साध्वी सुनंदा, कुमारपाल महाराजा एवं अंजना सती के कथा कथन है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृत में पूर्व प्रथम भाग में जैन धर्म दर्शन संबंधी जो जानकारी थी, उनका अग्रिम विकास करते हुए नवीन विषयों को समझाया गया है। फिर भी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें जो विकासोन्मुख क्रम अपनाया गया है वह निश्चित ही जन सामान्य को जैन धर्म के क्षेत्र में अग्रिम जानकारी देने में रुचिकर भी बना रहेगा। प्रथम खण्ड का प्रकाशन सचित्र रूप से जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। उसी प्रकार यह खण्ड की जन साधारण के लिए एक आकर्षक बनेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। कृति प्रणयन में डॉ. निर्मला बरडिया ने जो श्रम और आदिनाथ जैन ट्रस्ट के आयोजकों का जो सहयोग रहा है वह निश्चित ही सराहनीय है। आदिनाथ जैन ट्रस्ट जैन विद्या के विकास के लिए जो कार्य कर रहा है, और उसमें जन सामान्य जो रुचि ले रहे हैं, वह निश्चित ही अनुमोदनीय है। मैं इस पाठ्यक्रम की भूरि भूरि अनुमोदना करता हूँ

डॉ. सागरमल जैन  
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर



## \* प्रकाशकीय \*

वर्तमान समय में जीव के कल्याण हेतु “जिन आगम” प्रमुख साधन है। जीवन की सफलता का आधार सम्यक जीवन में वृद्धि तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। जहाँ सम्यक् ज्ञान है वहाँ शांति है, आनंद है और जहाँ अज्ञान है वहाँ आर्तध्यान है। परम पुण्योदय से मनुष्य जन्म एवं जिनशासन प्राप्त होने पर भी अध्ययन करने वाले अधिकतर विद्यार्थियों को धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा न मिलने के कारण आज के युग में प्रचलित भौतिकवादी ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा मानव बुद्धि को तृष्णा, ईर्ष्या, असंतोष, विषय - विलास आदि तामसिक भावों को बढ़ावा दिया हैं। ऐसे जड़ विज्ञान भौतिक वातावरण तथा विलासी जीवन की विषमता का निवारण करने के लिए सन्मार्ग सेवन तथा तत्त्वज्ञान की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से यह त्रिवर्षीय पत्राचार द्वारा पाठ्यक्रम (Certificate & Diploma Course) हमारे ट्रस्ट द्वारा शुरू किया गया हैं। ताकि प्रभु महावीर की वाणी घर बैठे जन - जन तक पहुँच सकें, नई पीढ़ी धर्म के सन्मुख होवे तथा साथ में वे लोग भी लाभान्वित हो जहाँ दूर - सुदूर, छोटे - छोटे गाँवों में साधु-साध्वी भगवंत न पहुँच पाये, गुरुदेवों के विचरन के अभाव में ज्ञान प्राप्ति से दूर हो रहे हो।

“जैन धर्म दर्शन” के नाम से नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है, जिसमें भाग 1 से 6 तक प्रति 6-6 महीने में प्रस्तुत किये जाएंगे।

इस पुस्तक के पठन - पाठन से पाठकगण जैन इतिहास, तत्त्वमीमांसा, आचार मीमांसा, कर्म मीमांसा सूत्रार्थ - महापुरुषों के जीवन कथाओं के विषय पर विशेष ज्ञान प्राप्त कर मन की मलिनताओं को दूर कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है। इस पुस्तक की समाप्ति पर इसके वर्णित पदार्थों की शास्त्रानुसारिता को प्रमाणिक करने के लिए पंन्यास प्रवर श्री अजयसागरजी म.सा., साध्वीजी श्री हेमप्रज्ञाश्रीजी म.सा., डॉ. सागरमलजी जैन एवं प्राणी मित्र श्री कुमारपाल भाई वी. शाह आदि ने निरीक्षण किया है। उस कारण बहुत सी भाषाएं भूलों में सुधार एवं पदार्थ की सचोष्टता आ सकी है। अन्य कई महात्माओं का भी मार्गदर्शन मिला है। उन सबके प्रति कृतज्ञभाव व्यक्त करते हैं। पुस्तक की पुष्फरीडिंग के कार्य में श्री मोहन जैन का भी योगदान रहा है।

आशा है आप हमारे इस प्रयास को आंतरिक उल्लास, उर्जा एवं उमंग से बधाएंगे और प्रेम, प्रेरणा, प्रोत्साहन से अपने भीतर के आत्म विश्वास को बढ़ाएंगे।

अंत में इस नम्र प्रयास के दौरान कोई भी जिनाज्ञा विरुद्ध कथन हुआ हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

डॉ. निर्मला जैन



# \* जैन इतिहास \*

- \* सात निन्हव
- \* जैन आगम साहित्य





## \* सात निन्हव \*

भगवान महावीर स्वामी के समय में और उनके निर्वाण के पश्चात् भगवान महावीर स्वामी में कुछ सैद्धान्तिक विषयों को लेकर मत भेद उत्पन्न हुआ। इस कारण कुछ साधु भगवान के शासन से अलग हो गये, उनका आगम में निन्हव नाम से उल्लेख किया गया है। उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

**\* जमाली और बहुरतवाद :-** भगवान महावीर स्वामी के केवलज्ञान के 14 वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई। इस मत के संस्थापक जमाली थे। वे कुण्डलपुर के रहनेवाले थे। सांसारिक संबंध के अनुसार वे भगवान महावीर स्वामी के भाणेज व दामाद भी थे। उनकी पत्नि प्रियदर्शना थी। जमाली ने 500 पुरुषों के साथ तथा उनकी पत्नि प्रियदर्शना 1000 महिलाओं के साथ भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेकर जमाली ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

एक बार जमाली ने प्रभु से स्वतंत्र विहार करने की आज्ञा मांगी। प्रभु मौन रहे, उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रभु की आज्ञा के बिना ही वे 500 मुनियों के साथ विचरण करते हुए श्रावस्ती नगरी पहुँचे। वहाँ संयोग से जमाली के शरीर से तीव्र दाह ज्वर उत्पन्न हुआ। उन्होंने श्रमणों को संथारा बिछाने को कहा। श्रमणों ने संथारो बिछाने का काम आरंभ किया। तीव्र दाह ज्वर की वेदना से एक एक पल उन्हें बहुत ही भारी लग रहा था। उन्होंने पूछा संथारा बिछ गया या नहीं ? उत्तर मिला - संथारा बिछ गया। तब वह वेदना से विकल होकर सोने के लिए आए और अर्ध संस्तृत शय्या को देखकर क्रोधित हुए और कहा - भगवान महावीर स्वामी जो चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत कहते हैं वह मिथ्या है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ संथारा किया जा रहा है, उसे कृत कैसे माना जा सकता है ? उन्होंने इस घटना के आधार पर निर्णय किया क्रियमाण को कृत नहीं कहा जा सकता। जो कार्य संपन्न हो चुका है उसे ही कृत कहा जा सकता है। कार्य की निष्पत्ति अंतिम क्षणों में ही होती है, उसके पूर्व नहीं। इस प्रकार वेदना - विह्वल जमाली मिथ्यात्व के उदय से निन्हव बन गये।

कितने ही निर्ग्रन्थ साधु जमाली के कथन से सहमत हुए तो कितने ही निर्ग्रन्थ साधु को उनका कथन उचित नहीं लगा। कुछ स्थविर निर्ग्रन्थों ने जमाली को समझाने का भी प्रयास किया और जब देखा कि जमाली किसी भी स्थिति में अपनी मिथ्या धारणा को बदलने के लिए तैयार नहीं है तो वे जमाली को छोड़कर भगवान महावीर स्वामी के शरण में पहुँच गये। जो उनके मत से सहमत हुए वे उनके पास रह गये।

जमाली जीवन के अंत तक अपने मत का प्रचार करते रहे। अंत समय में भी मिथ्या आग्रह आलोचना, प्रायश्चित्त नहीं किया और आयुष्य पूर्ण कर तेरह सागरोपम की स्थिति वाले किल्बिषिक देव बने। यह पहला निन्हव बहुरतवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। क्योंकि इसके अनुयायी बहुत समयों में क्रिया को होना मानते हैं।

## \* तिष्यगुप्त और जीव - प्रदेशिकवाद

भगवान महावीरस्वामी के कैवल्यज्ञान के 16 वर्ष पश्चात् ऋषभपुर में जीव प्रदेशिकवाद की उत्पत्ति हुई। दूसरे निन्हव तिष्यगुप्त थे। एक बार चौदह पूर्व के ज्ञाता आचार्य वसु अपने शिष्य तिष्यगुप्त मुनि को आत्मप्रवाद पूर्व पढ़ रहे थे। उसमें भगवान महावीर स्वामी और गौतम का संवाद आया -



गौतम - भगवन् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान - नहीं !

गौतम - भगवन् ! क्या जीव के दो, तीन, चार आदि संख्यात या असंख्यात प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान - नहीं ! अखण्ड चेतन द्रव्य में एक प्रदेश से कम को भी जीव नहीं कहा जा सकता।

भगवान का यह उत्तर सुन तिष्यगुप्त मुनि ने यह निष्कर्ष निकाला कि अंतिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं है, अतः अंतिम प्रदेश ही जीव है। आचार्य ने उन्हें बहुत समझाया कि जैसे एक तन्तु को पट नहीं कहा जा सकता, सारे तंतु मिलकर पट कहलाते हैं। वैसे ही एक प्रदेश जीव नहीं अपितु सारे प्रदेश मिलकर जीव कहलाते हैं। गुरु के समझाने पर भी उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तब गुरु ने उन्हें संघ से पृथक कर दिया। जीव प्रदेश के विषय में संदेह और आग्रह होने के कारण ये जीव प्रादेशिक कहलाए।

एक बार मित्रश्री नामक श्रमणोपासक ने तिष्यगुप्त मुनि को संबोध देने हेतु अपने घर भोजन के लिए आमंत्रित किया। तिष्यगुप्त मुनि वहां गये, मित्रश्री ने विविध खाद्य पदार्थों का एक - एक छोटा खंड उनके सामने रखा। जैसे चावल का एक दाना, सूप की दो चार बूंद, वस्त्र का एक छोटा टुकड़ा आदि। मित्रश्री ने फिर अपने स्वजनों से कहा- मुनि को वंदन करो ! आज हम दान देकर धन्य हो गये हैं। यह सुनकर तिष्यगुप्त मुनि बोले - तुमने मेरा तिरस्कार किया है। मित्रश्री बोला - मैंने तिरस्कार नहीं किया है। यह तो आपका ही सिद्धांत है कि आप वस्तु के अंतिम प्रदेश को ही वस्तु मानते हैं, दूसरे प्रदेशों को नहीं। इसलिए मैंने प्रत्येक पदार्थ का अंतिम अंश आपको दिया है। मैंने तो आपके सिद्धांत का पालन किया है। यदि यह सिद्धांत ठीक नहीं है, तो मैं आपको भगवान महावीर स्वामी के सिद्धान्तानुसार प्रतिलाभित करूं। इस घटना से मुनि तिष्यगुप्त प्रतिबुद्ध हो गये और पूर्व दोषों की आलोचना - प्रतिक्रमण करके पुनः भगवान महावीर स्वामी के शासन में सम्मिलित हो गये।

### ✽ आचार्य आषाढ के शिष्य और अव्यक्तवाद

भगवान महावीर के निर्वाण के 214 वर्ष बाद श्वेताविका नगरी में अव्यक्तवाद की उत्पत्ति हुई। इसके प्रवर्तक आचार्य आषाढभूति के शिष्य थे।

एक बार आचार्य आषाढ अपने शिष्यों को वाचना दे रहे थे। योग - साधना का अभ्यास चल रहा था। अचानक हृदय-शूल रोग से ग्रस्त होने के कारण उनका स्वर्गवास हो गया। मरकर वे देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ उन्होंने अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म को देखा और सोचा - शिष्यों का अभ्यास अधूरा रह जाएगा। अतः वे पुन दिव्य शक्ति से अपने मृत शरीर में प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को इसकी जानकारी नहीं थी। देव प्रभाव से अध्ययन का क्रम शीघ्र पूरा हो गया। जब शिष्य उस अध्ययन में पूर्ण निष्णात हो गए, तब आचार्य देवरूप में प्रकट होकर बोले - श्रमणों ! मुझे क्षमा करना। मैं असंयत होकर भी तुम साधुओं से वंदना करवाता रहा। मैं तो अमुक दिन ही काल - कवलित हो गया था। इस प्रकार क्षमायाचना कर देव चला गया। उनके जाते ही श्रमणों को संदेह हो गया - “कौन जाने कि कौन साधु है और कौन देव है? निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। सभी वस्तुएं अव्यक्त है। उनका मन संदेह के हिंडोले में झुलने लगा। स्थविरों ने उन्हें समझाया पर वे



नहीं समझे। तब उन्हें संघ से बाहर कर दिया गया। अव्यक्तवाद को माननेवालों का कहना है कि किसी भी वस्तु के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सब कुछ अव्यक्त है। कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि आचार्य आषाढ के कारण यह विचार चला, इसलिए इसके प्रवर्तक आचार्य आषाढ है। पर वास्तव में इसके प्रवर्तक आषाढ के शिष्य थे। ये तीसरे निन्हव हुए।

एक बार विहार करते हुए ये राजगृह नगरी में आये। राजा बलभद्र ने उनको पकड़वा लिया। साधुओं ने कहा - हम तपस्वी हैं, चोर नहीं। राजा ने कहा - कौन जानता है कि साधु वेश में कौन साधु है और कौन चोर। साधु बोले - ज्ञान और चर्या के आधार पर साधु और असाधु की पहचान होती है। राजा ने प्रत्युत्तर दिया - जब आपको भी कौन संयत है और कौन असंयत है यह ज्ञात नहीं होता तो मुझे आपके ज्ञान और चर्या में कैसे विश्वास होगा। आप अव्यक्त है अतः मैं कैसे जानूँ कि आप साधु है या चोर। अतः सब कुछ अव्यक्त है, इस संदेह को छोड़कर आप व्यवहार नय को स्वीकार करें। इस प्रकार युक्ति से राजा ने उन्हें संबोध दिया। संबुद्ध होकर वे पुनः गुरु के पास आये और प्रायश्चित लेकर संघ में सम्मिलित हो गए।

### \* अश्वमित्र और सामुच्छेदिकवाद

भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के 220 वर्ष बाद मिथिलापुरी में सामुच्छेदवाद की उत्पत्ति हुई। इसके प्रवर्तक आचार्य अश्वमित्र थे।

एक बार आचार्य अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्वी का ज्ञान पढ़ रहे थे। उस समय पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था। उत्पत्ति के अनंतर ही वस्तु नष्ट हो जाती है। अतः प्रथम समय के नारक जीव विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के नारक भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे। पर्यायवाद के इस प्रकरण को सुनकर आचार्य अश्वमित्र का मन शंकित हो गया। उन्होंने सोचा - यदि वर्तमान समय में उत्पन्न सभी जीव किसी समय विच्छिन्न हो जायेंगे, तो सुकृत - दुष्कृत कर्मों का वेदन कौन करेगा ? क्योंकि उत्पन्न होने के अनंतर ही सब की मृत्यु हो जाती है।

गुरु ने बहुत समझाया - यह बात ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से है। सब नयों की अपेक्षा से नहीं है। एक पर्याय के विनाश से वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रकार से गुरु के समझाने पर भी गुरु के कथन को स्वीकार नहीं किये। निन्हव समझकर गुरु ने उन्हें संघ से पृथक् कर दिया।

एक बार वे विहार करते हुए राजगृही नगरी में पहुंचे। वहां के खंडरक्ष आरक्षक श्रावक थे। उन्होंने आचार्य अश्वमित्र को उनके शिष्यों के साथ पकड़ लिया और पीटने लगे। अश्वमित्र ने कहा - तुम श्रावक होकर श्रमणों को इस तरह क्यों पीट रहे हो ? तब उन्होंने कहा - जो दीक्षित हुए थे, वे तो विच्छिन्न हो गए। तुम चोर हो या गुप्तचर हो कौन जाने ? आपको कौन मार रहा है, आप तो स्वयं विनष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार भय और युक्ति से समझाने पर वे संबुद्ध हो गए और गुरु के पास जाकर प्रायश्चित लेकर पुनः संघ में प्रविष्ट हो गए।

### \* आचार्य गंग और द्वैक्रियवाद

भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के 228 वर्ष पश्चात् उल्लकतीर नगर में द्वैक्रियावाद की उत्पत्ति हुई। इसके प्रवर्तक आचार्य गंग थे।



आचार्य गंग आचार्य महागिरी के शिष्य आचार्य धनगुप्त के शिष्य थे। एक बार आचार्य गंग शरदकाल में अपने आचार्य को वंदना करने उल्लुका नदी को पारकर जा रहे थे। वे नदी में उतरे तो सिर गंजा होने के कारण सूरज से सिर तप रहा था और नीचे से पानी शीतल लग रहा था। उनको संदेह हुआ की आगम में कहा है कि एक समय में एक क्रिया का अनुभव होता है पर मुझे तो एक साथ दो क्रियाओं (गर्मी और शीतलता) का अनुभव हो रहा है। वे गुरु के पास पहुँचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा - वास्तव में एक समय में एक क्रिया का ही अनुभव होता है। समय और मन का क्रम बहुत सूक्ष्म है, अतः हमें उसकी पृथक्ता का अनुभव नहीं होता। गुरु के समझाने पर भी वे नहीं समझे, तब उनको संघ से पृथक् कर दिया गया।

एक बार आचार्य गंग विचरण करते हुए राजगृह नगर में आए। वहाँ मणिनाग नाम नागदेव का चैत्य था। वहाँ सभा के सामने भी गंग ने एक समय में दो क्रियाओं के वेदन की बात कही। मणिनाग नागदेव ने सभा के मध्य प्रकट होकर कहा - तुम यह मिथ्या प्ररुपणा मत करो। मैंने भगवान के मुख से सुना है कि एक समय में एक ही क्रिया का संवेदन होता है। तुम अपने मिथ्यावाद को छोड़ो अन्यथा तुम्हारा कल्याण नहीं होगा, इसका भयंकर परिणाम हो सकता है। नागदेव के ऐसे वचनों को सुनकर आचार्य गंग भयभीत हुए और उन्होंने वह मिथ्या प्ररुपणा छोड़ दी। वे प्रबुद्ध हुए और गुरु के पास आकर प्रायश्चित पूर्वक संघ में सम्मिलित हो गये।

### \* रोहगुप्त और त्रैराशिकवाद :-

भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के 544 वर्ष बाद अन्तरंजिका नगरी में त्रैराशिक मत का प्रवर्तन हुआ। इसके प्रवर्तक रोहगुप्त (षडुलूक) थे।

रोहगुप्त आचार्य श्री गुप्त के शिष्य थे। एक दिन आचार्य को वंदना करने जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक पोडुशाल नाम का परिव्राजक मिला, जो हर एक को अपने साथ शास्त्रार्थ करने की चुनौती दे रहा था। रोहगुप्त ने उसकी चुनौती स्वीकार कर ली और आकर आचार्य को सारी बात कही। आचार्य ने कहा - वत्स ! तुमने यह ठीक नहीं किया। वह परिव्राजक सर्प आदि सात विद्याओं में पारंगत है, अतः तुमसे वह बलवान् है। रोहगुप्त आचार्य की बात सुनकर अवाक् रह गये। आचार्य ने कहा - वत्स! अब डरो मत। मैं तुम्हें उसकी प्रतिपक्षी मयूरी, नाकुली आदि सात विद्याएँ सिखा देता हूँ। तुम यथा समय उनका प्रयोग करना। आचार्य ने रजोहरण को मंत्रित कर उसे देते हुए कहा - वत्स ! इन सातों विद्याओं से तुम उस परिव्राजक को पराजित कर दोगें। फिर भी यदि आवश्यकता पड़े तो तुम इस रजोहरण को घूमना, फिर तुम्हें वह पराजित नहीं कर सकेगा।

रोहगुप्त सातों विद्याएँ सीखकर और गुरु का आशीर्वाद लेकर राजसभा में आये और परिव्राजक को वाद के लिए आमंत्रित किया। दोनों शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हुए। परिव्राजक ने अपना पक्ष स्थापित करते हुए कहा राशी दो है - एक जीव राशी और दूसरी अजीव राशी, रोहगुप्त ने जीव - अजीव और नोजीव ! मनुष्य, तिर्यच आदि जीव है। घट - पट आदि अजीव है और छिपकली की पूँछ आदि नोजीव है। इत्यादि अनेक युक्तियों से अपने कथन को प्रमाणित कर रोहगुप्त ने परिव्राजक को हरा दिया।

अपनी हार देख परिव्राजक ने क्रुद्ध हो एक - एक कर अपनी विद्याओं का प्रयोग करना प्रारंभ किया। रोहगुप्त ने उसकी प्रतिपक्षी विद्याओं से उन सबको निष्फल कर दिया। तब उसने अंतिम अस्त्र के रूप में



गर्दभी विद्या का प्रयोग किया। रोहगुप्त ने उस मंत्रित रजोहरण को घुमाकर उसे भी निष्फल कर दिया। सभी उपस्थित सभासदों ने परिव्राजक को परिजित घोषित कर रोहगुप्त की विजय की घोषणा की।

विजयी होकर रोहगुप्त आचार्य के पास आये और घटना सुनाई। आचार्य ने कहा - तुमने परिव्राजक को पराजित किया यहाँ तक तो ठीक है, परंतु वाद की समाप्ति के बाद तुम्हें यह कहना चाहिए था कि हमारा शुद्ध सिद्धांत तो दो राशी का ही है। केवल परिव्राजक को परास्त करने के लिए मैंने तीन राशीयों का समर्थन किया। अतः अब जाकर राजसभा में कहो कि वह त्रिराशिक सिद्धांत ठीक नहीं है।

रोहगुप्त अपना पक्ष त्यागने के लिए तैयार नहीं हुए। आचार्य ने सोचा यदि इन्हें ऐसे ही छोड़ दिया जाएगा तो कई लोगों की श्रद्धा को भ्रष्ट करेंगे। तब आचार्य ने राजा के पास जाकर कहा - राजन् ! मेरे शिष्य रोहगुप्त ने जैन सिद्धांत के विपरीत तत्त्व की स्थापना की है। जिनमत के अनुसार दो ही राशी है। किंतु समझाने पर भी रोहगुप्त अपनी भूल स्वीकार नहीं कर रहे। आप राजसभा में उसे बुलायें और मैं उसके साथ चर्चा करूंगा। राजा ने रोहगुप्त को बुलाया और गुरु शिष्य की छः मास की चर्चा हुई। चर्चा को लम्बी होते देखकर राजा ने निवेदन किया कि मेरा सारा राज्य कार्य अस्त - व्यस्त हो रहा है, आप इस चर्चा को समाप्त करिये। अंत में आचार्य ने कहा - यदि वास्तव में तीन राशी हैं तो कुत्रिकापण (जिसे आज जनरल स्टोर्स कहते हैं) में चले और तीसरी राशी नोजीव मांगे।

राजा को साथ लेकर सभी लोक कुत्रिकापण गये और वहां के अधिकारी से कहा हमें जीव अजीव और नोजीव, ये तीन वस्तुएँ दो ! उसने जीव और अजीव दो वस्तुएँ ला दी और बोला - नोजीव नाम की कोई वस्तु संसार में नहीं है। राजा को आचार्य का कथन सत्य प्रतीत हुआ और उसने रोहगुप्त को अपने राज्य से निकाल दिया। आचार्य ने भी उन्हें संघ से बाह्य घोषित कर दिया। तब वे अपने अभिमत का प्ररूपण करते हुए विचरने लगे। अंत में उन्होंने वैशेषिक मत की स्थापना की।

### \* गोष्ठामाहिल और अबद्धिकवाद :-

भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के 584 वर्ष बाद दशपुर नगर में अबद्धिक मत प्रारंभ हुआ। इसके प्रवर्तक गोष्ठामाहिल थे।

आचार्य आर्यरक्षित के तीन प्रमुख शिष्य थे - दुर्बलिकापुष्यमित्र, फाल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल। एक बार दुर्बलिकापुष्यमित्र अर्थ की वाचना दे रहे थे। उनके जाने के बाद विन्ध्य नामक मुनि उस वाचना का पुनरावर्तन कर रहे थे। गोष्ठामहिल भी उसे सुन रहे थे। उस समय आठवें कर्मप्रवाद पूर्व के अंतर्गत कर्म का विवेचन चल रहा था। उसमें एक प्रश्न यह था कि जीव के साथ कर्मों का बंध किस प्रकार होता है। उसके समाधान में कहा गया था कि कर्म का बंध तीन प्रकार से होता है :-

1. स्पृष्ट :- कुछ कर्म जीव प्रदेशों के साथ स्पर्श मात्र करते हैं और तत्काल सूखी दीवार पर लगी मिट्टी के समान झड़ जाते हैं।

2. स्पृष्ट बद्ध :- कुछ कर्म जीव - प्रदेशों का स्पर्श कर बंधते हैं, किंतु कुछ समय के पश्चात् पृथक् हो जाते हैं जैसे की गीली दीवार पर उड़कर लगी मिट्टी कुछ तो चिपक जाती है और कुछ नीचे गिर जाती है।

3. स्पृष्ट, बद्ध निकाचित :- कुछ कर्म जीव - प्रदेशों के साथ गाढ़ रूप से बंधते हैं, और दीर्घ काल तक

बंधे रहने के बाद, स्थिति का क्षय होने पर वे भी अलग हो जाते हैं।

उक्त विवेचन सुनकर गोष्ठामाहिल का मन शंकित हो गया। उन्होंने कहा - कर्म को जीव के साथ बद्ध मानने से मोक्ष का अभाव हो जाएगा। फिर कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकेगा। अतः सही सिद्धांत यही है कि कर्म जीव के साथ स्पृष्ट मात्र होते हैं, बंधते नहीं हैं, क्योंकि कालान्तर में वे जीव से वियुक्त होते हैं। जो वियुक्त होता है, वह एकान्तरूप से बद्ध नहीं हो सकता। उन्होंने अपनी शंका विन्ध्य के सामने रखी। विन्ध्य ने कहा आचार्य दुर्बलिका पुष्य मित्र ने इसी प्रकार का अर्थ बताया था।

गोष्ठामाहिल के गले यह बात नहीं उतरी। वह अपने ही आग्रह पर दृढ़ रहे। इसी प्रकार नौवे पूर्व की वाचना के समय प्रत्याख्यान के यथाशक्ति और यथाकाल करने की चर्चा पर विवाद खड़ा होने पर उन्होंने तीर्थंकर भाषित अर्थ को भी स्वीकार नहीं किया, तब संघ ने उन्हें बाहर कर दिया। आत्मा के साथ कर्म बद्ध नहीं होते मानने के कारण इनका मत अबद्धिकवाद कहलाया।

उक्त सात निन्हवों में से जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल ये तीन अंत तक अपने आग्रह पर दृढ़ रहे और भगवान के शासन में पुनः सम्मिलित नहीं हुए शेष चार निन्हव प्रायश्चित लेकर पुनः शासन में आ गए।

\*\*\*\*\*



## \* जैन आगम साहित्य \*

**\* आगमो का महत्व एवं प्रमाणिकता :-** प्रत्येक धर्म परंपरा में धर्म ग्रंथ या शास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धांत और आचार व्यवस्था दोनों के लिए शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण होता



हैं। हिन्दूधर्म में वेद का, बौद्ध धर्म में त्रिपिटक का, पारसीधर्म में अवेस्ता का, ईसाई धर्म में बाइबल का और इस्लाम धर्म में कुरान का जो स्थान है, वही स्थान जैन धर्म में आगम साहित्य का है। आगम साहित्य को न तो वेद के समान अपौरुषेय माना गया अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं है और न बाइबल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का संदेश है। अपितु वह उन तीर्थकरों की कल्याणकारी वाणी का संकलन है, जिन्होंने अपनी तपस्या और साधना के द्वारा केवलज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया था ! जैनों के लिए आगम जिनवाणी है, आप्त वचन है। उनके धर्म-दर्शन व साधना का

आधार हैं ।

केवलज्ञान के पश्चात् तीर्थकर अर्थ रूप में देशना देते हैं और गणधर उसे सूत्र रूप में गूँथते हैं। गणधरों के द्वारा रचित आगमों को अंग प्रविष्ट या द्वादशांगी कहते हैं। जिनवाणी का ही आश्रय लेकर विभिन्न स्थविरों और पूर्वधर आचार्यों के द्वारा रचित आगमों को अंग बाह्य या अनंग प्रविष्ट कहते हैं। इस प्रकार जैन आगम पौरुष्य (पुरुषकृत) अर्थात् किसी व्यक्ति के द्वारा रचित है और काल विशेष में निर्मित है।

जैन आचार्यों ने एक अन्य अपेक्षा से विचार करते हुए अंग आगमों को अर्थात् द्वादशांगी को शाश्वत भी कहा है। तीर्थकरों की परंपरा तो अनादि काल से चली आ रही है और अनंत काल तक चलेगी, कोई भी काल ऐसा नहीं जिसमें तीर्थकर नहीं होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में हमेशा चौथा आरा ही रहता है और हमेशा कम से कम बीस तीर्थकर विचरण करते हैं और सभी जगत के तीर्थकर शाश्वत सत्त्यों का ही अर्थ से एक समान देशना देते हैं। अतः इस दृष्टि से जैन आगम भी अनादि अनंत है। प्रत्येक तीर्थकरों की आत्मा भिन्न भिन्न होती है किंतु उनके उपदेश समान रूप होते हैं और उनके समान उपदेशों के आधार पर रचित ग्रंथ भी अर्थ से समान ही होते हैं। तीर्थकरों के उपदेश में चाहे शब्द रूप में अर्थात् वाक्यरचना की दृष्टि से भिन्नता हो सकती है, किंतु अर्थ रूप से भिन्नता नहीं होती है। अतः अर्थ या कथन की दृष्टि से यह एकरूपता ही जैनागमों को प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनंत सिद्ध करती है।

हर जीव की भूमिका के अनुरूप उनके आत्मकल्याण हेतु श्रेष्ठतम उपायों का निरूपण आगमों में किया गया है। एक तरफ उत्सर्ग मार्ग बताया गया है दूसरी तरफ व्यवहारिक वास्तविकता का स्वीकार करते हुए अपवाद मार्ग बताया है। आगमों में जीव को आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए बहुत गहरी प्रेरणा दी गयी है। साधना पथ पर विचलित हो रहे जीव को पुनः स्थिर करने के श्रेष्ठतम उपायों को भी आगमों में बताए गए हैं। आगमों में जगत के सत्त्यों को मनुष्य की बुद्धि शक्ति की मर्यादा को देखते हुए नय निक्षेप आदि प्रकार से बड़ी खुबी से सर्वग्राही तरीके से बताया गया है।



## \* आगम की परिभाषा :-

आगम शब्द “आ” उपसर्ग” एवं “गम” धातु से निष्पन्न हुआ है। “आ” उपसर्ग का अर्थ पूर्ण है और “गम” का अर्थ गति या प्राप्ति है। इस संदर्भ में आचार्यों ने आगम की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं

\* जिससे वस्तु तत्त्व (पदार्थ रहस्य) का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है।

\* जो तत्त्व आचार परंपरा से वासित होकर आता है वह आगम है।

\* जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है।

आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है। उपचार से आप्त वचन भी आगम माना जाता है। आप्त का कथन आगम है। जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्त्र आगम कहलाता है।

जैन दृष्टि से आप्त कौन है ? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जिन्होंने मोहादि चार घाती कर्मों को क्षय कर सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर अवस्था को प्राप्त कर ली है वे आप्त पुरुष हैं और उनके उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है। क्योंकि वक्ता के साक्षात् दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की संभावना नहीं होती और न पूर्वापर विरोध होता है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं - “तप - नियम - ज्ञान रूप वृक्ष के ऊपर आरुढ़ होकर अनंतज्ञानी तीर्थंकर भगवान् भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञान कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचनमाला में गूंथते हैं।

## \* आगम की भाषा :-

वर्तमान काल में आगम साहित्य की भाषा अर्धमागधी है। भगवान् महावीर स्वामी अर्धमागधी भाषा में देशना देते थे। क्योंकि यह जन समूह की आम भाषा थी। अर्धमागधी यह प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। मगध के आधे भाग में बोली जाने के कारण यह भाषा अर्धमागधी कहलाती है। इसमें मागधी के साथ अन्य अठारह देश भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं, इसलिए भी इसे अर्धमागधी कहते हैं।

## \* आगम वाचना :-

विशेषावश्यक भाष्य में आगम के अनेक एकार्थक शब्द उपलब्ध होते हैं - सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, प्रवचन, आगम, आज्ञा, उपदेश, आप्तवचन, जिनवाणी आदि जब तक लेखन परंपरा का विकास नहीं हुआ था तब तक ज्ञान का एक मुख्य आधार था - श्रवण ! शिष्य अपने गुरु के मुख से सुनकर ज्ञान ग्रहण करते थे। इस प्रकार श्रुत परंपरा पर आधारित इस ज्ञान का एक नाम था - श्रुत। श्रुत का अर्थ है - सुना हुआ। जो गुरु-मुख से सुना गया हो, वह श्रुत है। भगवान् महावीर स्वामी के उपदेशों को उनके शिष्यों ने और उनसे उनके शिष्यों ने श्रवण किया। श्रुत की यह परंपरा बहुत लम्बे समय तक चलती रही, जो संपूर्ण श्रुत को धारण कर लेते थे, वे श्रुतकेवली कहलाते थे, भगवान् महावीर की परंपरा में अंतिम श्रुतकेवली थे आचार्य भद्रबाहुस्वामी।

आचार्य भद्रबाहुस्वामी के पश्चात् श्रुत की धारा क्षीण होने लगी। जब आचार्यों ने देखा कि काल के



प्रभाव से स्मृति का हास हो रहा है और स्मृति का हास होने से श्रुत का हास हो रहा है, तब जैनाचार्यों ने एकत्रित होकर जैन श्रुत को व्यवस्थित किया। इस प्रकार श्रुत को व्यवस्थित करने के लिए पाँच आगम वाचनाएं हुई।

#### ✽ प्रथम वाचना :-

प्रथम वाचना भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण से करीब 160 वर्ष बाद पाटलीपुत्र में हुई। उस समय श्रमणसंघ का प्रमुख विहार क्षेत्र मगध था, जिसे हम आज बिहार प्रदेश के नाम से जानते हैं। मगध राज्य में बारह वर्षों तक लगातार दुष्काल पड़ा। जिसमें अनेक श्रुतधर मुनि दिवंगत (कालधर्म) हो गये, स्वाध्याय आदि न हो सकने के कारण अनेक की स्मृति क्षीण हो गई। अनेक मुनि विहार करके अन्यत्र चले गये। फलतः श्रुत की धारा छिन्न भिन्न होने लगी।

अकाल की समाप्ति पर वे मुनिगण वापस लौटे तो उन्होंने यह पाया कि उनका आगम ज्ञान अशंत, विस्मृत एवं विश्रृंखलित हो गया है और कहीं कहीं पाठ भेद हो गया है।

अतः उस युग के प्रमुख आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए और आचार्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में यह वाचना संपन्न हुई। उनके निर्देशन में श्रुतधर श्रमणों ने मिलकर ग्यारह अंगों का संकलन किया तथा उसे व्यवस्थित किया। क्योंकि बारहवाँ अंग दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य के कोई विशिष्ट ज्ञाता वहाँ उपस्थित नहीं थे। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद के ज्ञाता एक मात्र आचार्य भद्रबाहु स्वामी बचे थे। वे नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना में संलग्न थे। अतः संघ ने आचार्य स्थूलिभद्रजी को अनेक साधुओं के साथ दृष्टिवाद की वाचना लेने के लिए आचार्य भद्रबाहुस्वामी के पास भेजा। आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने वाचना देना प्रारंभ किया। दृष्टिवाद का एक विभाग है - पूर्वगत। उसमें चौदह पूर्व होते हैं। उनका परिमाण बहुत विशाल तथा ज्ञान अत्यंत कठिन होता है। बौद्धिक क्षमता एवं धारणाशक्ति की न्यूनता के कारण सब मुनियों का साहस टूट गया। आचार्य स्थूलिभद्रजी के अतिरिक्त कोई भी मुनि अध्ययन के लिए नहीं टिक सके। आचार्य स्थूलिभद्रजी ने अपने अध्ययन का क्रम चालू रखा। दस पूर्वों का सूत्रात्मक तथा अर्थात्मक ज्ञान हो चुका था। अध्ययन चल ही रहा था। इस बीच एक घटना घटी। उनकी बहनें जो साध्वियाँ थी, श्रमण भाई की श्रुताराधना देखने के लिए आईं। बहनों को चमत्कार दिखाने हेतु विद्या-बल से उन्होंने सिंह का रूप बना लिया। बहनें सिंह को देख भय से ठिठक गईं। यह देख आचार्य स्थूलिभद्रजी असली रूप में आ गये। आचार्य भद्रबाहुस्वामी विद्या के द्वारा बाह्य चमत्कार दिखाने के पक्ष में नहीं थे, उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि बहनों को चमत्कार दिखाने के लिए आचार्य स्थूलिभद्रजी ने शक्ति का प्रदर्शन किया है तो वे उन पर रुष्ट हो गये और प्रमाद के प्रायश्चित्त स्वरूप वाचना देना बंद कर दिया। आचार्य स्थूलिभद्रजी ने क्षमा मांगी। तत्पश्चात् संघ एवं आचार्य स्थूलभद्रजी के अत्यधिक अनुनय विनय करने पर एवं भावी काल के जीवों की अयोग्यता की परख कर आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने मूल रूप से अंतिम चार पूर्वों की वाचना दी, अर्थ की दृष्टि से नहीं। अतः सूत्र की दृष्टि आचार्य स्थूलभद्रजी चौदहपूर्वी हुए, किंतु अर्थ की दृष्टि से दसपूर्वी ही रहे। अर्थ की दृष्टि से आचार्य भद्रबाहुस्वामी के बाद चार पूर्वों का विच्छेद हो गया। इस प्रकार प्रथम वाचना पाटलीपुत्र में संपन्न हुई।



## \* द्वितीय वाचना :-

आगमों की द्वितीय वाचना भगवान महावीरस्वामी के निर्वाण के लगभग 300 वर्ष पश्चात् उड़ीसा के



कुमारी पर्वत पर सम्राट खारवेल के काल में हुई थी। इस वाचना के संदर्भ में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है - मात्र यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रुत का संरक्षण का प्रयत्न हुआ था। उस युग में आगमों के अध्ययन अध्यापन की परंपरा गुरु-शिष्य के माध्यम से मौखिक रूप में ही चलती थी।

## \* तृतीय वाचना :-

आगम संकलन का तीसरा प्रयत्न वीर निवारण के 827 और 840 के बीच हुआ। प्रथम आगम वाचना में जो ग्यारह अंग संकलित किये गये, वे गुरु - शिष्य क्रम से शताब्दियों तक चलते रहे। कहा जाता है, फिर बारह वर्षों का भयानक दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण अनेक श्रमण कालधर्म हो गए। दुर्भिक्ष का समय बीता। जो श्रमण बच पाये थे, उन्हें श्रुत के संरक्षण की चिंता हुई।

उस समय आचार्य स्कन्दिल युग प्रधान थे। उनके नेतृत्व में मथुरा के आगम वाचना का आयोजन हुआ। आगमवेत्ता मुनि दूर - दूर से आये। जिसको जो याद था उसके आधार पर पुनः संकलन किया गया और उसे व्यवस्थित रूप दिया गया। यह वाचना मथुरा में हुई, अतः इसे माथुरी वाचना कहा जाता है।

## \* चतुर्थ वाचना :-

चतुर्थ वाचना तृतीय वाचना के समकालिन समय ही है। जिस समय उत्तर - पूर्व और मध्य भरतक्षेत्र में विचरण करनेवाले मुनि संघ मथुरा में एकत्रित हुए, उसी समय दक्षिण - पश्चिम में विचरण करनेवाले मुनि संघ वल्लभीपुर, सौराष्ट्र में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्रित हुए। उस समय वहाँ आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एक मुनि सम्मेलन आयोजित हुआ और विस्मृत श्रुत को व्यवस्थित रूप दिया गया। अतः यह नागार्जुन वाचना कहलाती है। वल्लभीपुर में संपन्न होने के कारण इसे वल्लभी वाचना के नाम से भी जाना जाता है।

## \* पंचम वाचना :-

माथुरी और वल्लभी वाचना के 158 वर्ष पश्चात् यानी वीर निर्वाण के 980वें वर्ष में वल्लभीपुर में पुनः उस युग के महान् आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में पाँचवी वाचना आयोजित हुई। आर्य देवर्द्धिगणी समयज्ञ थे। उन्होंने देखा, अनुभव किया कि अब समय बदल रहा है। स्मरणशक्ति दिन - प्रतिदिन





क्षीण होती जा रही है। समय रहते यदि श्रुत की सुरक्षा का उपाय नहीं खोजा गया तो उसे बचा पाना कठिन होगा। आगम साहित्य को स्थायित्व देने की दृष्टि से उनके निर्देशन में आगम लेखन का कार्य प्रारंभ हुआ। उस समय माथुरी और वल्लभी दोनों ही वाचनाएँ उनके समक्ष थी। दोनों परंपराओं के प्रतिनिधि आचार्य एवं मुनिजन भी वहाँ उपस्थित थे। देवर्द्धिगणी ने माथुरी वाचना को प्रमुखता प्रदान की और वल्लभी वाचना को पाठान्तर के रूप में स्वीकार किया। माथुरी वाचना के समय भी आगम ताड - पत्रों पर लिखे गये थे। उन्हें सुव्यवस्थित करने का काम देवर्द्धिगणी ने किया। जैसा कि कहा है -

**बलहीपुरम्भि नयरे, देवढिड्य् महेण समण - संघेण।**

**पुत्थइ आगमु लिहिओ, नवसय असी सयाओ वीराओ॥**

इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण संघ ने देवर्द्धिगणी के निर्देशन में वीर निर्वाण 980 में आगमों को पुस्तकारुढ (लिखवाना) किया था। आज जैन शासन में जो आगम निधि सुरक्षित है, उसका श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के प्रयत्नों को ही जाता है। इस प्रकार देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण सर्वप्रथम आगमों को पुस्तकारुढ किया और संघ के समक्ष उसका वाचन किया।

\*\*\*\*\*



# \* જૈન તત્ત્વ મીમાંસા \*

- \* નિર્જરા તત્ત્વ
- \* બંધ તત્ત્વ
- \* મોક્ષ તત્ત્વ





## \* निर्जरा तत्त्व \*



नव तत्त्वों में निर्जरा सातवाँ तत्त्व है। संवर के पश्चात् निर्जरा तत्त्व का स्थान है। संवर नवीन कर्मों के आश्रव को रोकता है तो निर्जरा द्वारा पहले से आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मों के कुछ अंश का क्षय होता है। निर्जरा शब्द का अर्थ है - झड़ना, कम होना, बिखर जाना या नष्ट हो जाना अर्थात् पूर्वकृत कर्मों का झड़ जाना। जिस प्रकार जहाज में जल के आगमन द्वार को रोक देने पर उस जहाज में रहे हुए जल को बाल्टी आदि से उलीचकर बाहर निकाला जाता है या सूर्य के ताप आदि से धीरे धीरे जल सूख जाता है वैसे ही कर्मों के आश्रव को संवर द्वारा रोक देने पर तप आदि कारणों से आत्मा के साथ पहले से बंधे हुए कर्म धीरे धीरे क्षीण होते जाते हैं। कहा जाता है “**एक देश कर्म संक्षयलक्षणा निर्जरा**” इस दृष्टि से निर्जरा का अर्थ है कर्म वर्गणा का आंशिक

रूप से आत्मा से अलग होना।

बोलचाल की भाषा में यह कह सकते हैं कि मैले कपड़े में साबुन लगाते ही मैल साफ नहीं हो जाता। जैसे जैसे साबुन का झाग कपड़े के तार - तार में पहुंचता है वैसे वैसे धीरे धीरे मैल दूर होना प्रारंभ हो जाता है। प्रस्तुत बात निर्जरा के लिए भी समझनी चाहिए। साधक ने संवर से नवीन कर्मों को आने से रोक तो दिया किंतु पूर्वबद्ध कर्म मल की मलीनता तप आदि से धीरे धीरे क्षय करता है। अर्थात् जीव का कर्मों से आंशिक रूप से मुक्त होने का प्रयास निर्जरा है और पूर्ण शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाना मोक्ष है।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग में सीढ़ियों के समान है। सीढ़ियों पर क्रम से कदम रखने पर मंजिल पर पहुंचा जाता है। वैसे ही क्रमशः निर्जरा कर मोक्ष अवस्था प्राप्त की जाती है।

\* निर्जरा के दो प्रकार हैं :- 1. अकाम निर्जरा 2. सकाम निर्जरा

1. **अकाम निर्जरा** :- अनिच्छा से विवशतापूर्वक व्रत

- नियम या तप करना अकाम निर्जरा है। आत्म शुद्धि के उद्देश्य से रहित होकर स्वर्गादि की कामना से निदानपूर्वक तप करने से अथवा कर्म फल को आर्त - रौद्र ध्यान से युक्त होकर लाचारी से भोगने पर जो कर्म झड़ते हैं, उसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य जो असंयत एवं अविरत है उनकी अकाम निर्जरा है क्योंकि वे कष्टों को अनिच्छा से संक्लिष्ट होकर भोगते हैं।



**सर्वार्थसिद्धि** में कहा है “ कारागृह में रहने पर या रस्सी आदि से बांधे जाने पर जो भूख प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता है, भूमि पर सोना पड़ता है, तथा विविध प्रकार की पीड़ाओं को मजबूरी से सहना पड़ता है, ऐसी स्थिति में जो संताप होता है उसे अकाम कहते हैं तथा अकाम से जो निर्जरा



होती है

वह अकाम निर्जरा है।

**2. सकाम निर्जरा :-** जो निर्जरा आत्म - शुद्धि के लक्ष्य से अर्थात् मोक्ष लक्ष्य बनकर किये जानेवाले तप से तथा कष्टों को समभाव के साथ सहन करने से होती है वह सकाम निर्जरा है।

सकाम निर्जरा कर्म फल भोगने की प्रशस्त कला है। पूर्व बद्ध शुभाशुभ कर्मों के उदय में आने पर सुख या दुख को समभावपूर्वक भोगने से सकाम निर्जरा का परम लाभ मिलता है।

आगमों में तप को निर्जरा का साधन माना है। कहा जाता है

**“भवकोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई”**

करोड़ों जन्मों के उपार्जित कर्म तप के द्वारा क्षीण हो जाते हैं। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक समाधि एवं दुश्चिन्ताओं से उपर उठने का एक मात्र उपाय तप साधना है। अर्थात् इच्छा निरोध पूर्वक ज्ञान-बल से दुःखों को सहना और उन पर विजय प्राप्त करना तप है।

संसार में कई प्राणी आत्म शुद्धि के लक्ष्य को भूलकर केवल शारीरिक कष्ट सहन करने का मार्ग अपनाते हैं। कोई पंचाग्नि तप करते है, कोई कांटों पर सोते है, कोई अग्नि पर चलते है, कोई मास - मास तक का उपवास करके पारणे में कुष मात्र खाते है, लेकिन यह सब अज्ञान तप है। ऐसे तप से कोई आत्मिक लाभ नहीं होता क्योंकि ऐसे तप का उद्देश्य ही गलत है। जिसका उद्देश्य ही अशुद्ध

है तो कार्य कैसे शुद्ध हो सकता है। सांसारिक वासनाओं से या यश की लालसा से किया हुआ तप बाल तप की कोटि में है। ऐसे तप से आत्म शुद्धि नहीं होती है। आत्म शुद्धि के उद्देश्य से किया गया तप ही सकाम कर्मों की निर्जरा का कारण होता है।

कहा जाता है - इस लोक में भौतिक सुखों की लालसा से तप न करें, परलोक में भौतिक सुखों की इच्छा से तप न करें, यश - कीर्ति, पूजा महिमा के लिए तप न करें, मान कषाय से प्रेरित होकर तप न करें, केवल निर्जरा के हेतु ही तप की आराधना करें।

तप का अर्थ केवल शरीर का दमन ही नहीं है, अपितु आत्म दमन भी है। कषायादि वासनाओं से वासित चित्त की प्रवृत्ति का निरोध करना आत्म दमन है। जो साधक अपनी इच्छाओं को वश में करते हैं वे तपस्वी पद के सच्चे अधिकारी है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है - **“इच्छानिरोधस्तपः**, इच्छाओं को रोकना तप है” जिसने अपनी इच्छाओं को जितने अंश में कम की है वह उतने ही अंश में तप का आराधक है।

जैनागमों में यद्यपि दीर्घ बाह्य तप का विधान है तथा अनेक ऐसे तपस्वियों के उदाहरण भी मिलते हैं जिन्होंने एक मास से लेकर छः मास तक अनशन किया है तथापि मन में असमाधि उत्पन्न हो जाय या तन में





कोई भयंकर व्याधि हो जाए तो बाह्य या अभ्यंतर तप में आगे बढ़ने का निषेध है। अतः कहा भी है तपस्या तभी तक करनी चाहिए, जब तक मन में दुर्ध्यान न हो। तपस्या करने वाले साधक को अपनी शक्ति को नापकर ही तपस्या करनी चाहिए। “दशवैकालिक सूत्र” में कहा है - “बल, क्षमता, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल (समय या परिस्थिति) देखकर ही स्वयं को किसी साधना में लगाना चाहिए।” जहां इसका विचार किये बिना देख - देखी दूसरों के कहने से अविवेकपूर्वक तप किया जाता है, वहां आर्त्तध्यान हो जाए वह तप बाल तप बन जाता है।

भ. महावीरस्वामी ने प्रत्येक साधना के साथ दो बातों का निर्देश दिया है। “अहासुहं” और “मा पडिबंधं करेह” अर्थात् जिस प्रकार से सुख समाधि हो वह साधना स्वीकार करो परंतु साधना के लिए तुम्हारे मन में उत्साह हो, प्रबल मनोबल हो और शरीर में समाधि हो तो उस साधना को करने में विलम्ब या शिथिलता हर्गिज मत करो।

**तप के मुख्य दो भेद है :-** 1. बाह्य तप और 2. अभ्यंतर तप।

1. बाह्य तप :- जिस तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है तथा जो भोजन आदि बाह्य द्रव्यों के त्याग के आलंबन से होता है और दूसरों को तप के रूप में दिखाई देता है, वह बाह्य तप है।

2. अभ्यंतर तप :- जिस तप में मानसिक साधना की प्रधानता होती है और जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों को दिखाई न देता है, आत्मा की आंतरिक शुद्धि करनेवाला तप अभ्यंतर तप है।

**बाह्य तप के छः प्रकार है :-**



**1. अनशन :-** मर्यादित समय के लिए या आजीवन के लिए चार या तीन प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है। जैसे अशन यानी अन्नादि खाद्यपदार्थ, पान अर्थात् जल आदि पेय पदार्थ, खादिम यानी मेवा आदि और स्वादिम का अर्थ है मुख को सुवासित करनेवाले सुपारी, इलायची, सौंफ, चूर्ण आदि ये चारों प्रकार के पदार्थ यहां अशन शब्द से ग्राह्य है।

अनशन तप तब कहलाता है जब शरीर तपाने के साथ साथ आत्मशुद्धि का भी लक्ष्य हो, अपच आदि की दशा में भोजन त्याग अनशन तो है परंतु अनशन तप नहीं है। वह लंघन है।

**अनशन तप के मुख्य दो भेद हैं:-** 1. इत्वरिक अनशन और 2. यावत्कथिक अनशन

1. **इत्वरिक अनशन :-** थोड़े समय के लिए आहारादि का त्याग करना जैसे नवकारसी से लेकर छःमासी तप करना।

2. **यावत्कथिक अनशन :-** आजीवन चारों प्रकार के आहार और शरीर शुश्रूषा का त्याग करना। साधारण भाषा में इसे संधारा भी कहते हैं।



**II. ऊनोदरी या अवमौदर्य :-** इस तप का अर्थ है भूख से कम खाना। उन यानी कम, ओदरी यानी उदरपूर्ति। जितनी भूख हो उससे कुछ कम आहार करना। जैसे चार रोटी की भूख होने पर भी तीन रोटी में संतोष करना ऊनोदरी तप है। आहार के समान कषाय, वस्त्र, योग की चंचलता आदि की भी ऊनोदरी होती है। इसलिए इस तप के दो भेद हैं, 1. द्रव्य ऊनोदरी 2. भाव ऊनोदरी



1. **द्रव्य ऊनोदरी :-** वस्त्र, पात्र आदि उपकरण कम करना और आहार की मात्रा घटाना द्रव्य ऊनोदरी है।

2. **भाव ऊनोदरी :-** क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि भावों का तथा शब्दों का प्रयोग भी कम करना भाव ऊनोदरी है।

द्रव्य ऊनोदरी में साधक जीवन को बाहर से हलका, स्वस्थ व प्रसन्न रखने का मार्ग बताया गया है और भाव ऊनोदरी में अन्तरंग प्रसन्नता, आंतरिक लघुता और सद्गुणों के विकास का पथ प्रशस्त किया गया है।



**III. वृत्ति संक्षेप :-** विविध वस्तुओं की लालसा को कम करना या भोगाकांक्षा पर अंकुश लगाना वृत्ति संक्षेप तप है। वृत्ति का अर्थ भिक्षाचारी या भिक्षावृत्ति भी है। साधु भिक्षावृत्ति के लिए विविध प्रकार की मर्यादाओं को स्वीकार करता है जैसे दो या तीन घरों से ही भिक्षा ग्रहण करेगा अर्थात् एक या दो बार में पात्र में जो आहार आयेगा उसी से संतुष्ट रहूंगा, या अमुक मुहल्ले में ही गोचरी के लिए जाऊंगा आदि भिक्षा वृत्ति या वृत्ति संक्षेप तप है। किंतु श्रावक भिक्षा से भोजन प्राप्त नहीं करता। वह भोजन में खाये जानेवाले द्रव्यों का संकोच करता है, यानि वह निश्चय करता है कि इतने द्रव्य से अधिक नहीं खाऊंगा या अमुख अमुख पदार्थ नहीं खाऊंगा, यह वृत्ति संक्षेप हैं। श्रावक के 14 नियम का

चिंतन इस तप के अंतर्गत में आ जाते हैं।

**IV. रस परित्याग :-** आहार का त्याग करना ही तप नहीं है। अपितु खाते पीते भी तप हो सकता है। इस तप का उद्देश्य स्वादवृत्ति पर विजय पाना है। जीभ को स्वादिष्ट लगने वाले, मन को विकृत करनेवाले और इन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाले खाद्य पदार्थों का त्याग करना रस परित्याग तप है।

इसमें मुख्यतः घी, तेल, दूध, दही, शक्कर या गुड और कढ़ाई (घी, तेल में तली हुई चीजें) इस छः विगई का यथाशक्य त्याग करना तथा मांस, मदिरा, शहद और मक्खन इन चार महाविगई का सर्वथा त्याग करना होता है।





**V. काय - क्लेश :-** धर्म आराधना के लिए स्वेच्छापूर्वक काया को कष्ट देना या कायिक कष्ट को समता भाव से सहन करना कायक्लेश तप है। इस तप में विविध आतापना, केश - लोचन तथा उग्र विहार आदि का समावेश किया गया है। परंतु ध्यान रखना है केवल काया को कष्ट देना ही कायक्लेश तप नहीं है, किंतु ज्ञान व विवेकपूर्वक आत्मशुद्धि व इन्द्रिय विजय की भावना रखते हुए शारीरिक वेदना, उपसर्ग, परीषह, आदि को समभाव पूर्वक सहन करना कायक्लेश तप है।



**VI. संलीनता (विविक्त शय्यासन) :-** शरीर, इन्द्रिय और मन को संयम में रखना, काया का संकोच करना, स्त्री, पशु, नपुंसक रहित एकांत, शांत और पवित्र स्थान में रहना, विषयों का गोपन (रक्षण) करना तथा कषायों को रोकना संलीनता तप है।

इन छः प्रकार के बाह्य तपों से आसक्ति त्याग, शरीर का लाधव, इन्द्रिय विजय से संयम की रक्षा और कर्मों की निर्जरा होती है। ये बाह्य तप अभ्यंतर तप के पोषण हेतु किये जाते हैं।

\* छः प्रकार के अभ्यंतर तप :-

**I. प्रायश्चित :-** प्रायश्चित में दो शब्दों का योग है, प्राय और चित्त, प्राय का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है विशोधन करना अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम ही प्रायश्चित है।

प्राकृत भाषा में प्रायश्चित का पायच्छित्त कहा है। पाय अर्थात् पाप और छित्त अर्थात् छेदन करना। जो क्रिया पाप का छेदन करती है, पाप को दूर करती है, उसे पायच्छित्त कहते हैं।

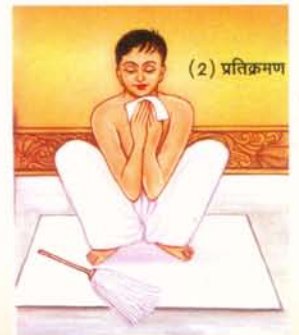
किये हुए पापों को पश्चाताप पूर्वक गुरु के समक्ष निवेदन करना और पापशुद्धि के लिए गुरु महाराज द्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त तप करना। प्रायश्चित्त 10 प्रकार का है।



**1. आलोचना :-** गुरु के समक्ष अपने दोषों को निष्कपट भाव से व्यक्त करना आलोचना है।

**2. प्रतिक्रमण :-** दोष या भूल के लिए हृदय में खेद करना और भविष्य में भूल न करने का संकल्प करके पूर्व में हुई भूल के लिए

मिच्छामि दुःखडं देना, मेरा वह पाप मिथ्या हो, ऐसा भाव पूर्वक कहना प्रतिक्रमण है।





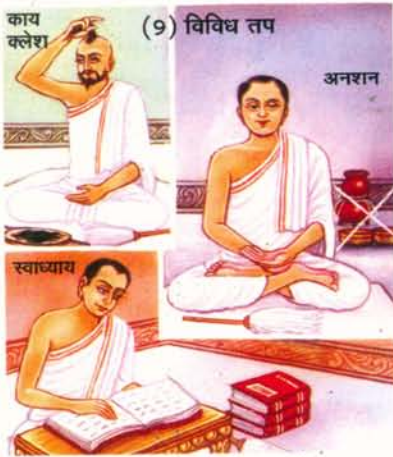
**3. तदुभय (मिश्र) :-** जिसमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों साथ हो। पहले गुरु के सामने आलोचना करना, बाद में गुरु की आज्ञानुसार प्रतिक्रमण करना। निद्रावस्था में दुःस्वप्नादि के कारण जो दोष लगते हैं उनकी शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण से होती है।



**4. विवेक :-** साधु के लिए अकल्पनीय सचित या जीवयुक्त आहार, पानी, उपकरण शय्या आदि किसी कारण से आ गए हो तो ऐसे पदार्थों का त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त है।



**5. व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग :-** दोषों की शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता पूर्वक शरीर और वचन के व्यापारों का त्याग करना व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग है।



**6. तप :-** दोषों की शुद्धि के लिए अनशन आदि बाह्य तप करना तप प्रायश्चित्त है।

**7. छेद :-** महाव्रत का घात होने पर अमुक प्रमाण में दीक्षा काल को घटाना या कम करना।

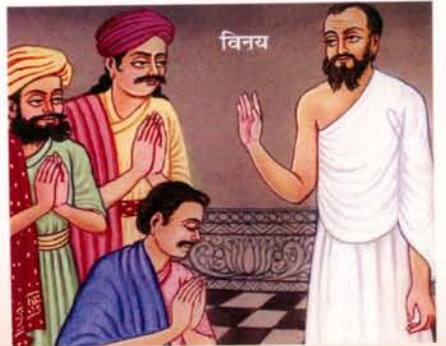
**8. मूल प्रायश्चित्त :-** साधु द्वारा महा अपराध हो जाने पर मूल से पुनः महाव्रतों को वापिस देना। इस प्रायश्चित्त में संयम पर्याय का पूरा छेद हो जाता है और दुबारा दीक्षा दी जाती है।

**9. अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त :-** किये हुए अपराध का प्रायश्चित्त न करे तब तक पुनः नई दीक्षा न देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।

**10. पारांचिक प्रायश्चित्त :-** महा समर्थ साधु के द्वारा उत्सूत्र प्ररूपणा,

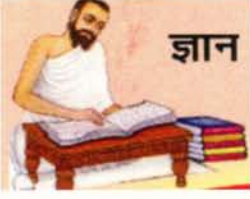
साध्वी के शील का भंग करना, संघ में भेद करना आदि गम्भीरतम अपराध करने पर संघ से पृथक करके कठोर तप कराकर छः महीने से लेकर बारह वर्ष पर्यन्त साधु वेश का त्याग करने के पश्चात् शासन की महाप्रभावना करने के बाद जिनको पुनः नई दीक्षा दी जाती है, ऐसा प्रायश्चित्त पारांचिक प्रायश्चित्त है।

**II. विनय :-** विनय का अर्थ है नम्रता, मृदुता, अहंकार रहितता, आदर भाव। गुणियों और गुणों के प्रति आदर सम्मान विनय तप है। कहा जाता है - “विनीयते अष्टप्रकारं कर्मनेनेति विनयं” जिससे आठ प्रकार के कर्म दूर किये जाते हैं, वह विनय है।





उसके सात भेद है :-



1. **ज्ञान विनय** :- अत्यंत बहुमान आदि से युक्त होकर अभ्यासपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना, उसका अभ्यास जारी रखना और भूलना नहीं।



2. **दर्शन विनय** :- देव - गुरु - धर्म तथा जिनवाणी के प्रति दृढ़ श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा रखना दर्शन विनय है।

3. **चारित्र विनय** :- सामायिक आदि पाँच चारित्रों पर श्रद्धा करना, काया के द्वारा उनका पालन करना, भव्यजनों के समक्ष उनकी प्ररूपणा करना आदि चारित्र विनय है।



4. **लोकोपचार विनय** :- गुरु, गुणाधिक आदि के सम्मुख आने पर आगे बढ़कर उनका स्वागत करना, उनके आने पर खड़े हो जाना, जब वे जायें तो उनके पीछे - पीछे चलना, उनके सामने दृष्टि नीची रखना, वंदन करना, आसन आदि देना लोकोपचार विनय है।

5. **मन विनय** :- गुणियों के प्रति मन में सदैव प्रशंसा का भाव रखना।

6. **वचन विनय** :- वचन से गुणियों का गुणोत्कीर्तन और संस्तुति करना।

7. **काय विनय** :- सभी काय संबंधी प्रवृत्तियां ऐसी करना जिससे बहुमान, सत्कार, निरभिमानता और विनम्रता प्रगट हो।



III. **वैयावच्च** :- वैयावच्च का अर्थ है गुरुजनों की सेवा -

शुश्रूषा करना, निःस्वार्थ भाव से धर्म साधना में सहयोग करनेवाली विविध प्रकार से आहार, पानी, वस्त्र, उपकरण, औषधि आदि से गुरु, तपस्वी, रोगी, वृद्धजन, असहाय आदि साधु की सेवा शुश्रूषा करना, उनको सुखशांता पहुँचाना और उनके संयमी व तपस्वी जीवन की यात्रा में सहयोगी बनना वैयावच्च तप है। वैयावच्च से तीर्थंकर नाम गौत्र कर्म का बंध होता है। उसके आचरण से साधक महानिर्जरा और परम मुक्ति पद को प्राप्त करता है।



निम्नोक्त की सेवा रूप वैयावच्च के दस भेद हैं :-

1. **आचार्य** :- जो स्वयं विशुद्ध रूप से पांच आचारों का पालन करे तथा करावें।







**2. उपाध्याय :-** मुख्य रूप से जिनका कार्य श्रुताभ्यास कराना हैं। आचार्य की अनुज्ञा लेकर साधु - साध्वी विनय पूर्वक जिनके पास शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय करते हैं।

**3. तपस्वी :-** महान और उग्र तप करनेवाले तपस्वी हैं।

**4. स्थविर :-** स्थविर का अर्थ सामान्यतया वृद्ध साधु होता है। इनके तीन भेद हैं

**A. श्रुत स्थविर :-** समवायांग सूत्र तक का अध्ययन जिन्होंने कर लिया हो।

**B. दीक्षा स्थविर :-** जिनकी मुनि दीक्षा को 20 वर्ष हो गये हो।

**C. वय स्थविर :-** जो साठ वर्ष या इससे अधिक उम्र के हो गये हो।

**5. शैक्ष :-** नव दीक्षित शिक्षा प्राप्त करनेवाला साधु शैक्ष है।

**6. ग्लान :-** जो रोग आदि से पीड़ित हो उन्हें ग्लान कहते हैं।

**7. कुल :-** एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य परिवार को कुल कहते हैं।

**8. गण :-** भिन्न आचार्यों के शिष्य यदि परस्पर समान वांचना वाले हो तो उनका समुदाय गण कहलाता है।

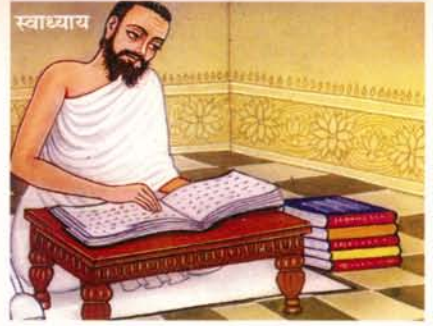
**9. संघ :-** जिन धर्म के अनुयायी साधु - साध्वी, श्रावक - श्राविकाओं का चतुर्विध समुदाय संघ कहलाता है।

**10. साधर्मिक :-** समान धर्म वाला साधर्मिक है।

इन सबकी आहार, पात्र आदि आवश्यक वस्तुओं से भक्ति करना, करवाना, ज्ञानवृद्धि में सहयोग देना, पैर दबाना आदि सभी प्रकार से सुख शांता पहुँचाकर उनकी साधना में सहयोगी बनना वैयावच्य तप है।







**IV. स्वाध्याय :-** अस्वाध्याय काल को टाल कर सत् शास्त्रों को मर्यादापूर्वक पढ़ना, विधि सहित अध्ययन करना स्वाध्याय हैं। दूसरा अर्थ है शास्त्रवाक्यों के आलम्बन से स्वयं का अध्ययन करना, अपना अपने ही भीतर अध्ययन अर्थात् आत्मचिंतन-मनन करना स्वाध्याय हैं। जैसे शरीर के विकास के लिए व्यायाम और भोजन की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार आत्मिक विकास के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता होती है। इस कारण शास्त्र कहते हैं “**सज्झायम्मि रओ सया**” अर्थात् साधक को सदा स्वाध्याय में रत रहना चाहिए। उससे नया विचार, नया चिंतन जागृत होता है / पढ़े हुए ज्ञान की स्थिरता होती है व नूतन ज्ञान प्राप्त होता है।

यह ध्यान रहे कि हर किसी प्रकार के शास्त्र, ग्रंथ या पुस्तकों का अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता। जैसे गलत तरीके से किया गया व्यायाम शरीर के लिए हानिप्रद है। अपथ्य भोजन शरीर में रोग पैदा करता है, उसी प्रकार जिनाज्ञा निरपेक्ष उन्मार्ग पोषक विकारवर्धक एवं हिंसाप्रेरक आदि साहित्य, ग्रंथ या पुस्तकों पठन भी लाभप्रद नहीं अपितु हानिकर है। संवर, निर्जरा के बजाय पाप बंधक बन जाता है। अतः पढ़ते समय विवेक की आवश्यकता है। कम पढ़ो, सुंदर पढ़ो जिससे सद्विचार जागृत हो।

**उत्तराध्ययन सूत्र** में कहा गया है स्वाध्याय से समस्त दुखों से मुक्ति मिलती है। जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्म इससे क्षीण हो जाते हैं। इस दृष्टि से स्वाध्याय अपने आप में बहुत बड़ी तपस्या हैं। इसमें आत्म-ध्यान और शुभ-भावों की अनिवार्यता है। जो विद्वान है और शास्त्रों का अक्षराभ्यास कर चुके हैं किंतु आत्म-ध्यान से रहित है तो उनका शास्त्राध्ययन आत्मकल्याण का कारण न बनकर पुण्य का कारण मात्र रह जाता है।

स्वाध्याय के पांच भेद हैं -

**1. वाचना :-** गुरु मुख से विधिपूर्वक जिन वचनों का ग्रहण करना, सूत्र और अर्थ को शुद्धतापूर्वक पढ़ना, योग्य साधकों को पढ़ाना और जो नहीं पढ़ सकते हो उन्हें सुनाना।



**2. पृच्छना :-** पढ़ने या वाचना लेने के पश्चात् किसी विषय में शंका हो तो जिज्ञासा एवं विनयपूर्वक गुरु के पास या उस विषय के जानकार से शंका का समाधान करना।



**3. परावर्तना :-** सीखे हुए या पढ़े हुए सूत्र अर्थ रूप ज्ञान को भूल न जाए इसलिए उसे बार-बार दोहराना या उसकी पुनरावृत्ति करना।

**4. अनुप्रेक्षा :-** सीखे हुए ज्ञान को बार-बार चिंतन, मनन करके उनके रहस्यों को हृदयगम करना।





**5. धर्मकथा :-** पढा हुआ या चिंतन मनन किया हुआ श्रुतज्ञान जब लोक-कल्याण की भावना से श्रोताओं को सुनाया जाता है, तब वह धर्म कथा कहलाता है।



#### V. ध्यान :-

ध्यान का अर्थ है - एकाग्रचित्त होना। मन को, एक विषय पर एकाग्र करना

अर्थात् केन्द्रित करना ध्यान है, इसके चार भेद हैं।



**1. आर्तध्यान :-** दुख के निमित्त या दुख में होने वाला ध्यान आर्तध्यान है, दुख व्याधि और तनाव के कारण से व्याकुलता चिंता, शोक आदि के विचार बार-बार उठते हैं और मन उसमें डूबा रहता

है, वह आर्तध्यान कहलाता है।

**2. रौद्रध्यान :-** हिंसा, झूठ, चोरी संबंधी तथा धन आदि की रक्षा में मन को जोड़ना रौद्रध्यान है।

**3. धर्मध्यान :-** तत्त्वों और श्रुत-चारित्र्य रूप धर्म के पवित्र चिंतन में मन को स्थिर करना धर्मध्यान है।

**4. शुक्ल ध्यान :-** जो ध्यान आठ प्रकार के कर्म मैल को दूर करता है वह शुक्ल ध्यान है। पर आलम्बन के बिना शुक्ल अर्थात् निर्मल आत्म स्वरूप का तन्मयतापूर्वक चिंतन करना शुक्ल ध्यान है। बाह्य विषयों से संबंध होने पर भी मन उनकी ओर आकर्षित नहीं होता। पूर्ण वैराग्य अवस्था में रमण करता है। भयंकर वेदना होने पर भी शुक्ल ध्यानी उस वेदना को तनिक भी महसूस नहीं करता। वह देहातीत हो जाता है।

**VI. व्युत्सर्ग :-** व्युत्सर्ग का अर्थ है - त्याग करना या छोड़ देना। बाह्य और अभ्यंतर उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग नामक छठा आभ्यंतर तप है।

**1. धन-धान्य आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है।**

**2. शरीर की ममता का त्याग एवं काषायिक विकारों का त्याग करना आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है।**

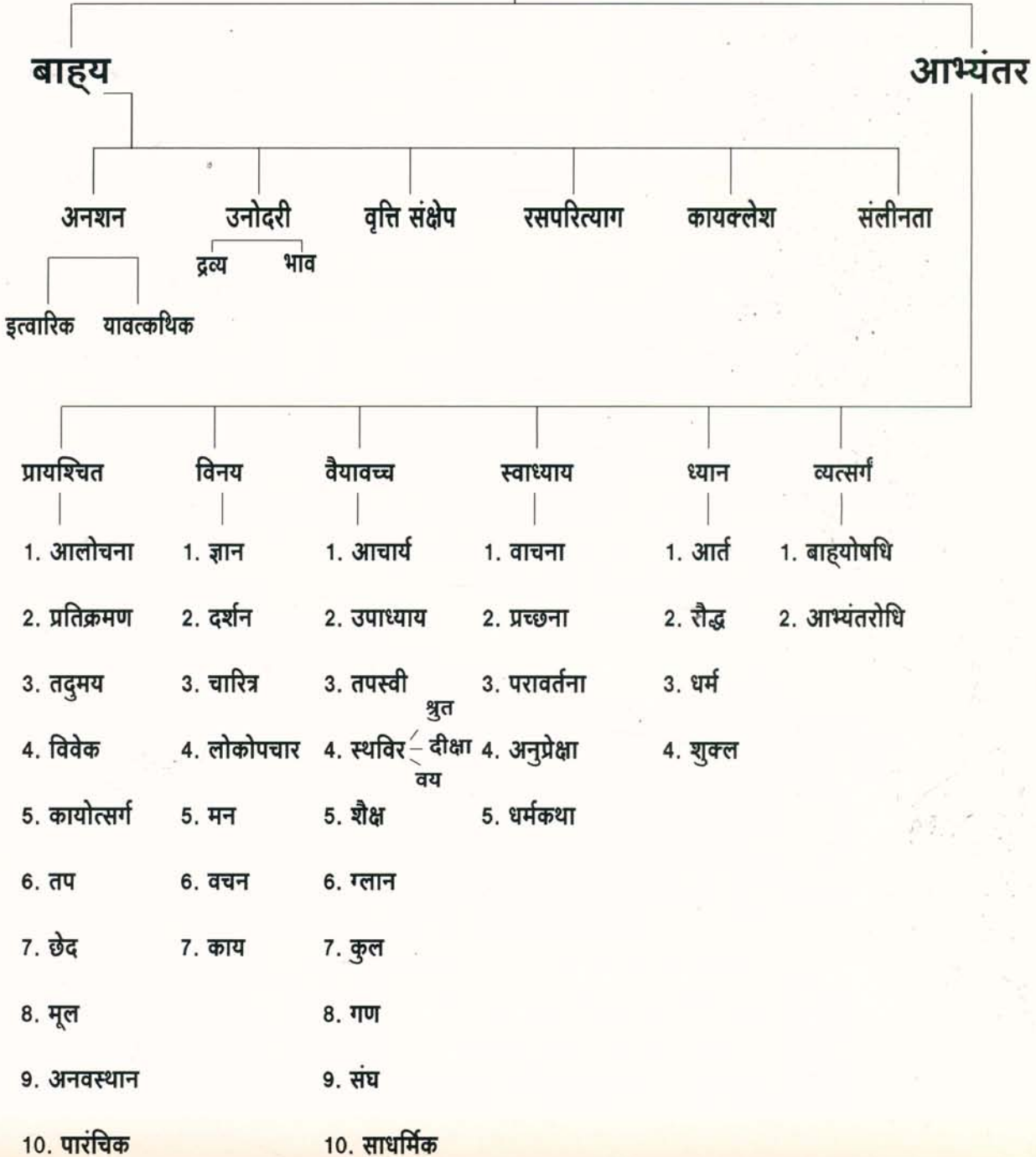
इस प्रकार जो साधक ममता के बंधनों को तोड़ते हैं वे व्युत्सर्ग तप की सच्ची आराधना करते हैं।

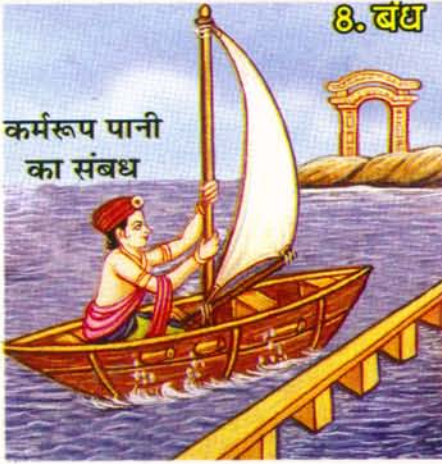
उक्त रीति से छह बाह्य और छह आभ्यंतर तप के आराधन से कर्मों की महान निर्जरा होती है। निर्जरा के प्रति तप असाधारण कारण है, इसलिए तप के बारह भेदों को ही निर्जरा के बारह भेद के रूप में गिनाये हैं।





# तप





## \* बंध-तत्त्व \*

आत्मा अपने मौलिक रूप में शुद्ध चिदानन्दमय एवं अनन्त शक्ति संपन्न है। किन्तु तथा विध भवितव्यतायोग से उसका यह शुद्ध मौलिक स्वरूप अनादिकाल से विभाव-परिणत है। मिट्टी मिले हुए स्वर्ण की तरह संसारी आत्मा राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि विभावों से पूरी तरह प्रभावित है। जिसके कारण वह अपने मौलिक स्वरूप भूलकर विभाव को ही स्वभाव मानने लगी है और उसी में आनंद समझने लगी है। इस विभाव एवं विपरीत परिणति के कारण आत्मा कर्मों का बंध करती हैं। वे बंधे हुए कर्म आत्मा के मौलिक गुणों का आवरण और घात करती है, जिसके फलस्वरूप आत्मा अपनी स्वतंत्रता खोकर कर्मबंधनों के अधीन हो जाती है और उनका नचाया हुआ नाच नाचती हैं। आत्मा और कर्मों का यह

संबंध ही बंध तत्त्व है।

बंध की परिभाषा करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है - “सकषायत्वाज्जीव कर्मणों योग्यान् पुद्गलानादत्ते संबंध” कषाय-परिणत आत्मा कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करती है, वह बंध है। जैसे - दूध में जल, तिल में तेल, लोहे के गोले में अग्नि, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों में कर्म पुद्गल व्याप्त होते हैं। यही बंध है। अतः आत्मा और कर्म, इन दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को बंध कहते हैं।

**बंध के कारण :-**

**कर्मबंध के पांच कारण है -** 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग

**1. मिथ्यात्व :-** विपरित श्रद्धा होना मिथ्या दर्शन हैं।

**2. अविरति :-** व्रत पचकखाण नहीं करना। दोषों से विरक्त न होना, षट्काय जीवों की हिंसा करना और पांच इन्द्रियों तथा मन को विवेक में नहीं रखना अविरति है।

**3. प्रमाद :-** अनुपयोगदशा, पुण्य-कार्यों या शुभ कर्मों के विषय में अनादर भाव, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक न रखना और शुद्ध आचार के संबंध में सावधानी न रखना ये प्रमाद हैं।

**4. कषाय :-** कर्म या संसार को कष कहते हैं। और आय अर्थात् प्राप्ति। जिसके कारण कर्म या संसार की प्राप्ति होती है, उसे कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं।

**5. योग :-** मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों को योग कहते हैं।

**बंध के दो प्रकार :-**

1. द्रव्य बंध और 2. भाव बंध

**1. द्रव्य बंध :-** कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से संबंध होना द्रव्य बंध है। द्रव्यबंध में आत्मा और कर्म पुद्गलों का संयोग होता है। परंतु ये दो द्रव्य एक रूप नहीं हो जाते, उनकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती हैं।

**2. भाव बंध :-** जिन राग, द्वेष और मोह आदि विचार भावों से कर्म का बंधन होता है, उसे भाव बंध कहते हैं।



बंध तत्त्व शुभ और अशुभ - दो प्रकार का होता हैं। शुभ बंध पुण्य है और अशुभ बंध पाप हैं। जब तक कर्म उदय में नहीं आते, अर्थात् अपना फल नहीं देते तब तक वे सत्ता में रहते हैं और जब कर्म फल देने लगते हैं तब पुण्य-पाप कहलाने लगते हैं।

**बंध के चार प्रकार :-**

1. प्रकृति बंध 2. स्थिति बंध 3. अनुभाग बंध और 4. प्रदेश बंध



प्रदेश बंध

1. **प्रकृति बंध :-** कर्म पुद्गलों में अलग-अलग फल देने के स्वभाव का उत्पन्न होना।

2. **स्थिति बंध :-** कर्म की आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा।

3. **अनुभाग बंध :-** कर्म दलिको में तीव्र या मंद रस पैदा होना।

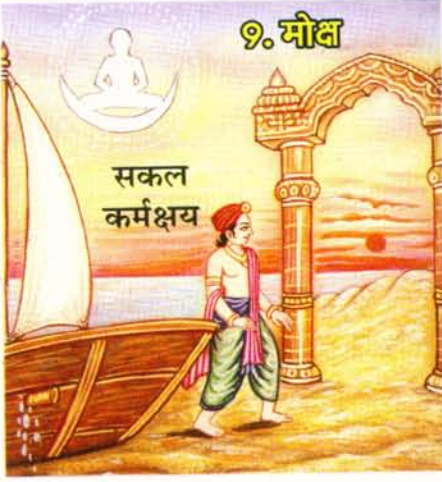


4. **प्रदेश बंध :-** कर्म के दलिको का समूह।

इनके संबंध में अधिक विस्तार से कर्म मीमांसा (भाग-1) में विवेचन किया गया है।



## मोक्ष तत्व



नवतत्त्वों में मोक्ष तत्व अंतिम व अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। वह जीवमात्र का चरम और परम लक्ष्य है। जिसने समस्त कर्मों का क्षय करके अपने साध्य को सिद्ध कर लिया, उसने पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली। कर्म बंधन से मुक्ति मिली कि जन्म मरण रूप महान् दुःखों के चक्र की गति रुक गई। सदा सर्वदा के लिए सत् - चित् आनंदमय स्वरूप की प्राप्ति हो गई।

**\* मोक्ष की परिभाषा :-** तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्ष की परिभाषा देते हुए कहा है :- “कृत्सन कर्मक्षयो मोक्षः”

संपूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। अर्थात् आत्मा और कर्म का अलग - अलग हो जाना ही मोक्ष है। संपूर्ण कर्मों का क्षय उसी दशा में हो सकता है, जब नवीन कर्मों का बंध सर्वथा रोक दिया जाए और पूर्वबद्ध कर्मों की पूरी तरह निर्जरा कर दी जाय। जब तक नवीन कर्म

आते रहेंगे, तब तक कर्म का आत्यन्तिक क्षय संभव नहीं हो सकता। इसलिए कहा है।

**“बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्”**

बंध के हेतुओं के अभाव से और निर्जरा से संपूर्ण कर्मों का क्षय संभव है। मिथ्यात्व आदि बंधहेतुओं का अभाव संवर द्वारा होने से नवीन कर्म नहीं बंधते और पहले बंधे हुए कर्मों का अभाव निर्जरा से होता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा मोक्ष के दो कारण हैं।

कर्मक्षय की श्रृंखला में सर्वप्रथम मोहनीय कर्म क्षीण होते हैं और उसे क्षीण होने के अंतर्मुहूर्त में ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय। इन तीन कर्मों का भी क्षय हो जाता है। इस प्रकार चार घाती कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रकट होता है और आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाती है।

मोहनीय आदि चार घातिकर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट होती है। फिर भी वेदनीय आदि चार अघातिकर्म शेष रहते हैं जिनके कारण मोक्ष नहीं होता है। इन अघातिकर्मों का भी जब क्षय होता है तभी मोक्ष होता है और उस स्थिति में जन्म मरण का चक्र समाप्त हो जाता है।

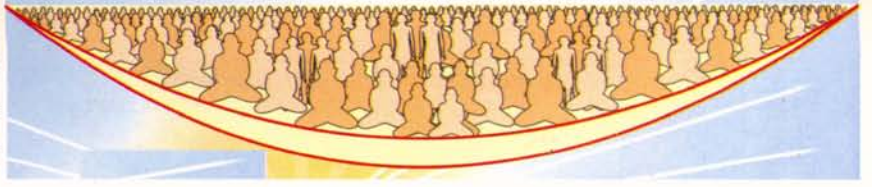
दूसरे शब्दों में मोक्ष का अर्थ है मोह का क्षय, राग और द्वेष का पूर्ण क्षय, आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में चिरकाल तक स्थिर रहना यही मोक्ष है। कर्म से मुक्त होने पर आत्मा एक समय में लोकाग्र भाग पर स्थित हो जाती है। इस लोकाग्र को व्यवहार भाषा में सिद्धशिला (सिद्ध के रहने का स्थान) कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग में जाकर क्यों स्थिर हो जाती है आगे क्यों नहीं जाती ? धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य लोकाकाश में ही है, उससे आगे अलोकाकाश में नहीं है। धर्मास्तिकाय द्रव्य गति में और अधर्मास्तिकाय जीव की स्थिति में सहायक होता है। अलोकाकाश में ये दोनों द्रव्य न होने से मुक्तात्माओं का न गमन होता है और न ही स्थिति होती है। अतः उनका गमन लोकांत तक ही होता है।

**\* मोक्ष का स्वरूप :-** सर्वाथसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर 45 लाख योजन की चौड़ी, गोलाकार व छत्राकार सिद्धशिला है। वह मध्य में 8 योजन मोटी और चारों ओर से क्रमशः घटती - घटती किनारे पर मक्खी के पंख से भी अधिक पतली होती है। वह पृथ्वी श्वेत स्वर्णमयी है, स्वभावतः निर्मल है और उल्टे रखे हुए छाते



के आकार की है। इसका परिक्षेत्र (Diametre) 1,42,30,249 योजन का है। इस पृथ्वी के एक योजन ऊपर लोक का अंत होता है।



भव के चरम (अंतिम) समय में शरीर का त्याग करके मुक्त जीव एक समय में ही सीधा मोक्ष में चले जाते हैं। अंतिम अवस्था में जिस आकार से मुक्ति प्राप्त की है, उसी आकार में आत्मप्रदेश स्थित होते हैं। अंतिम भव में जो शरीर की अवगाहना (लंबाई) होती है, उससे 2/3वाँ भाग (त्रिभाग हीन) मुक्त जीव की अवगाहना समझनी चाहिए। जैसे 500 धनुष अवगाहना की कायावाले की 333धनुष और 32 अंगुल परिमाण, वहाँ अवगाहना होती है।

✱ **मोक्ष का सुख** :- मोक्ष के सुख का वर्णन करते हुए आचार्य उमास्वामि ने लिखा है - मुक्तात्माओं के सुख विषयों से अतीत और अव्याबाध है। संसार के सुख विषयों की पूर्ति, वेदना के अभाव, पुण्य कर्मों के इष्ट फल रूप है, जबकि मोक्ष के सुख कर्म के क्षय से उत्पन्न परमसुख रूप है। सारे लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा सिद्धों के सुख के साथ दी जा सके।

**औपपतिक सूत्र** में वर्णन है - सिद्ध शरीर रहित होते हैं। वे चैतन्यधन और केवलज्ञान, केवलदर्शन से संयुक्त होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग उनके लक्षण है। सिद्ध केवलज्ञान से युक्त होने पर सर्वद्रव्य गुण पर्याय को जानते हैं न मनुष्य को ऐसा सुख होता है न सब देवों को, जैसा कि अव्याबाध सुख सिद्धों को प्राप्त होता है।

यदि तीनों कालों से गुणित देव सुख को अनंत बार वर्ग वर्गित (वर्ग को वर्ग से गुणित) किया जाए तो भी वह सिद्ध के एक आत्मप्रदेश के सुख के समान नहीं हो सकता।

संपूर्ण कार्य सिद्ध करने के कारण वे सिद्ध हैं। सर्वतत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध है। संसार समुद्र को पार करने के कारण पारगंत है। हमेशा सिद्ध रहेंगे अतः परम्परागत है। जन्म - जरा - मरण के बंधन से मुक्त है।

✱ **सिद्ध के पंद्रह भेद** :-

मोक्ष आत्म - विकास की चरम एवं पूर्ण अवस्था है। पूर्णता में किसी भी प्रकार का भेद नहीं होता। अतः मुक्तात्माओं में भी कोई भेद नहीं है। प्रत्येक आत्मा अनंत ज्ञान, दर्शन एवं अनंतगुणों से परिपूर्ण है। सिद्धों में पंद्रह भेदों की कल्पना की गई है, वह केवल लोक व्यवहार की दृष्टि से है।

✱ **15 प्रकार के सिद्ध** :-



1. **जिन सिद्ध** :- तीर्थंकर पद प्राप्त करने के पश्चात् जो सिद्ध हो, जैसे अरिहंत परमात्मा।

2. **अजिन सिद्ध** :- तीर्थंकर पद प्राप्त किये बिना सामान्य केवली बनकर मोक्ष जाना, जैसे पुंडरिक स्वामी आदि।



3. **तीर्थ सिद्ध** :- तीर्थ यानी साधु - साध्वी,



श्रावक - श्राविका ऐसा चतुर्विध संघ की स्थापना के बाद शासन की विद्यमानता में जो सिद्ध हो, जैसे जंबुस्वामी आदि।

4. अतीर्थ सिद्ध :- तीर्थ की स्थापना के पहले या तीर्थ विच्छेद के बाद सिद्ध हो जैसे मरुदेवी माता आदि।



5. गृहस्थ लिंग सिद्ध :- गृहस्थ वेश में सिद्ध हो, जैसे मरुदेवी माता।



6. अन्य लिंग सिद्ध :- तापस आदि अन्य धर्म के वेश में सिद्ध हो, जैसे वक्कलचीरी आदि।



7. स्वलिंग सिद्ध :- साधु वेश में सिद्ध हो जैसे जैन मुनि।



8. स्त्रीलिंग सिद्ध :- स्त्री शरीर से मोक्ष जावे जैसे चंदनबाला आदि।

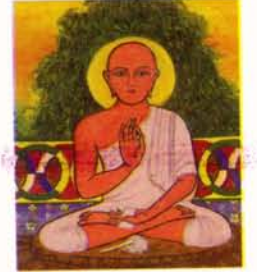


9. पुरुषलिंग सिद्ध :- पुरुष शरीर से मोक्ष जावे, जैसे गौतमस्वामी आदि।



10. नपुंसक लिंग सिद्ध :- नपुंसक शरीर से मोक्ष जावे जैसे गांगेय आदि।

11. प्रत्येक बुद्ध सिद्ध :- वृद्ध बैल आदि किसी बाह्य निमित्त से स्वतः बोध पाकर मोक्ष जावे, जैसे करकंडु मुनि आदि।



12. स्वयं बुद्ध सिद्ध :- किसी बाह्य निमित्त के

बिना, तथा गुरु आदि के उपदेश के बिना कर्म की लघुता के कारण अपने आप स्वतः वैराग्य पाकर मोक्ष जावे, जैसे कपिल केवली आदि।

13. बुद्ध बोधित सिद्ध :- दूसरे के उपदेश से वैराग्य पाकर मोक्ष जावे, जैसे वायुभूति गणधर आदि।







**14. एक सिद्ध :-** एक समय में एक ही मोक्ष जावे जैसे, श्री महावीर स्वामी।

**15. अनेक सिद्ध :-** एक समय में अनेक मोक्ष जावे, जैसे श्री ऋषभदेव स्वामी।

इन पंद्रह प्रकार के सिद्धों का निर्वाण सुख, मोक्ष सुख पूर्णतः एक जैसा ही होता है। उसमें किसी तरह का अंतर नहीं होता।



**\* मोक्ष तत्त्व के नौ भेद :-** नव द्वारों से मोक्ष तत्त्व की विचारणा

**1. सत्पद प्ररुपणा :-** कोई भी पद - नाम वाले पदार्थ विश्व में विद्यमान है या नहीं उसका प्रमाण देकर निरूपण करना। जैसे मोक्ष सत् विद्यमान है, उसकी सत्ता अवश्य है। मोक्ष पूर्व में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा, अतएव वह सत् है, आकाश कुसुम की तरह असत् नहीं है।

**2. द्रव्यद्वार :-** कोई भी पदार्थ जगत में कितने है, उसकी संख्या बतानी, जैसे मोक्ष में अनंत सिद्ध जीव है।

**3. क्षेत्रद्वार :-** कोई भी पदार्थ कितनी जगह में है, वह बताना, जैसे सिद्ध आत्माएं लोक में असंख्यातवें भाग में रहे हुए है। सिद्धशिला के ऊपर एक योजन के अंतिम कोस के छठे भाग में 333धनुष 32 अंगुल प्रमाण क्षेत्र में सिद्ध जीव रहते हैं।

**4. स्पर्शनाद्वार :-** कोई भी पदार्थ कितने आकाश प्रदेशों को स्पर्श कर रहा है, ऐसा सोचना। जैसे सिद्ध के जीव लोक के असंख्यात भाग को स्पर्श करते हुए रहे हैं। क्षेत्र से कुछ अधिक स्पर्शना होती है।

**5. कालद्वार :-** कोई भी पदार्थ की स्थिति कितने काल तक है वह विचारना। जैसे एक सिद्ध के जीव की अपेक्षा से सादि अनंत और सर्व सिद्धात्माओं की अपेक्षा से अनादि अनंत काल।

**6. अंतरद्वार :-** वर्तमान में पदार्थ जिस स्वरूप में है, उसका त्याग करके, दूसरे स्वरूप को धारण करे, उसके बाद पुनः वो ही स्वरूप को धारण कर सके या नहीं, धारण करें तो बीच में कितना अंतर पड़े, वह बताना। मोक्ष में अंतर नहीं है, क्योंकि मोक्ष में गये हुए जीवों का संसार में आकर वापिस मोक्ष में जाना नहीं होता।

**7. भागद्वार :-** कोई भी पदार्थ की संख्या दूसरे सजातीय या विजातीय पदार्थों की अपेक्षा से कितने भाग में है या कितने गुण अधिक है, वह सोचना, सर्व जीवों के अनंतवे भाग में मोक्ष के जीव हैं।

**8. भावद्वार :-** औपशामिक, क्षायिक आदि पाँच भावों में से वह पदार्थ कौन से भाव में समाविष्ट है, वह बताना। सिद्धात्माओं को क्षायिक और पारिणामिक भाव होता है। क्षायिक भाव में केवलज्ञान और केवलदर्शन और पारिणामिक भाव में जीवत्व होता है।

**9. अल्पबहुत्व :-** पदार्थ के प्रकारों में परस्पर संख्या का अल्पत्व तथा बहुत्व अर्थात् हीनाधिकपणा बताना। सबसे अल्प नपुंसक सिद्ध होते हैं। उनसे संख्यातगुणा अधिक स्त्री सिद्ध होती है। उनसे संख्यातगुणा अधिक पुरुष सिद्ध होते हैं। एक समय में नपुंसक 10, स्त्री 20 और पुरुष 108 सिद्ध हो सकते हैं।

**\* मोक्ष प्राप्ति के उपाय :-** मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय हैं - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप। ज्ञान से तत्त्वों की जानकारी और दर्शन से तत्त्वों पर श्रद्धा होती है। चारित्र से आते हुए कर्मों को रोका जाता है और तप के द्वारा बंधे

हुए कर्मों का क्षय होता है। इन चारों उपायों से कोई भी जीव मोक्ष पा सकता है। इसकी साधना के लिए जाति, कुल, वंश आदि कोई भी कारण नहीं है, किंतु जिसने भी कर्मबंधन को तोड़कर आत्मगुणों को प्रकट कर लिया, वही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है। जैन दर्शन में गुणों का महत्व है - व्यक्ति, जाति, लिंग, कुल, संप्रदाय आदि का महत्व नहीं है।

\* तत्त्वज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य :- जैन दर्शन की यह तात्त्विक व्यवस्था मोक्षमार्ग परक है। यानी जीव को कर्मबंधन से मुक्त होने का पुरुषार्थ करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। इस दृष्टि से इन जीवादि नौ तत्त्वों में से प्रथम जीव और अजीव ये दो तत्त्व मूल द्रव्य के वाचक हैं। आस्रव, पुण्य, पाप और बंध ये चार तत्त्व संसार व उसके कारण भूत राग - द्वेष आदि का निर्देश कर मुमुक्षु की साधना को जागृत करने के लिए हैं तथा संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व संसार मुक्ति की साधना का विवेचन करते हैं। अंतिम मोक्ष की साधना के फल - परिणाम का संकेत करता है कि जीव स्वयं अपने स्वभाव को प्रकट कर उसी में रमण करते हुए आत्मा से परमात्म बन जाता है। उस परमात्मा पद की साधना और उसका स्वरूप समझने के लिए ही जैन विचारकों ने तत्त्वज्ञान का यह विस्तार किया है। इस स्वरूप को समझकर उसकी ओर प्रवृत्त होना ही तत्त्वज्ञान की सार्थकता है - बुद्धि का सार है - तत्त्व विचारणा और देह का सार है - व्रत (संयम) का पालन करना।

\*\*\*\*\*



# \* जैन आचार मीमांसा \*

\* षडावश्यक

1. सामायिक
2. चतुर्विंशतिस्तव
3. वंदन
4. प्रतिक्रमण
5. कायोत्सर्ग
6. प्रत्याख्यान

\* जिनदर्शन पूजन विधि

## \* षडावश्यक \*

आवश्यक जैन साधना का प्रमुखतम अंग है। वह जीवन शुद्धि और दोष निवृत्ति का जीवन्त भाष्य है। वह आध्यात्मिक समता - नम्रता आदि सद्गुणों का आधार है। साधक को अपनी आत्मा को परखने व निरखने का एक महान उपाय है। सभी साधकों के लिए आवश्यक का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है जैसे वैदिक परम्परा में संध्या है, बौद्ध परम्परा में उपासना है, पारसियों में खोर देह अवस्ता है, यहूदी और ईसाइयों में प्रार्थना है, इस्लामधर्म में नमाज है, वैसे ही जैन धर्म में दोषों की शुद्धि के लिए और गुणों की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक है।

कहा जाता है “अवश्यं करणाद् आवश्यकम्” - जो अवश्य ही किया जाय वह आवश्यक है। अर्थात् जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के अधीन करे वह आवश्यक है।

जो गुण शून्य आत्मा को प्रशस्त भावों से युक्त करता है वह आवश्यक है। जिस साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव करें, कर्म मल को नष्ट कर अजर अमर पद प्राप्त करें तथा सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आध्यात्म ज्योति जगावें वह आवश्यक है। अपने भूलों को निहार कर उन भूलों के परिष्कार के लिए प्रभु की बताई गई क्रिया करना आवश्यक है।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधु - साध्वी, तथा श्रावक - श्राविका के लिए यह नियम है कि वे अनिवार्य रूप से आवश्यक क्रिया करें। जीवन में दोष लगे हो, या ना लगे हो सुबह - शाम दोनों समय प्रतिक्रमण के जो आवश्यक का एक अंग है, उसे अवश्य करना चाहिए। प्रतिक्रमण एक इतनी महत्वपूर्ण क्रिया है कि यदि साधु - साध्वी प्रतिक्रमण नहीं करते हो तो वे साधु धर्म से च्युत हो जाते हैं। **अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के दो विभाग किये हैं**

1. द्रव्य आवश्यक और 2. भाव आवश्यक

1. **द्रव्य आवश्यक** :- जिस आवश्यक में बिना चिंतनपूर्वक पाठों का केवल उच्चारण किया जाता है, केवल बाह्य क्रिया चलती है, वह द्रव्य आवश्यक है।

2. **भाव आवश्यक** :- जिस आवश्यक में साधक उपयोग के साथ बिना किसी इच्छा, यश, नामना, कामना के मन, वचन और काया को पूर्ण एकाग्र करके विधि एवं बहुमान पूर्वक क्रियाएँ करता है, वह भाव आवश्यक है।

### \* आवश्यक सूत्र के छः अंग

1. सामायिक :- समभाव की साधना
2. चतुर्विंशतिस्तव :- चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति
3. वंदन :- सद्गुरुओं को वंदना
4. प्रतिक्रमण :- दोषों की आलोचना
5. कायोत्सर्ग :- शरीर के प्रति ममत्व का त्याग
6. प्रत्याख्यान :- आहार आदि का त्याग



### सामायिक :-

षडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है, यह जैन आचार का सार है। सामायिक साधु और श्रावक दोनों के लिए आवश्यक है। जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे सभी प्रथम सामायिक चारित्र को ग्रहण करते हैं। चारित्र के जो पाँच प्रकार बताये हैं, उनमें सामायिक चारित्र प्रथम है। श्रमणों के लिए सामायिक प्रथम चारित्र है, तो गृहस्थ साधकों के लिए चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत है।

✽ **सामायिक के लक्षण** :- सामायिक का मुख्य लक्षण समता और समभाव है। समता का अर्थ है मन की स्थिरता, एकाग्रता आदि। आचार्य हरिभद्रसूरि ने **अष्टकप्रकरण** में सामायिक में निम्न लक्षण बताये हैं।

**समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभ भावना।**

**आर्तरौद्र - परित्यागस्तद्धि, सामायिकं व्रतम् ॥**

अर्थात् सभी जीवों के प्रति राग - द्वेष रहित समभाव रखना पाँचों इन्द्रियों पर तथा मन के विकारों को वश में करना, उत्तम भावना रखना और आर्त - रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म और शुक्लध्यान का चिंतन करना सामायिक व्रत है।

✽ **सामायिक का शब्दार्थ** :- सम अर्थात् मध्यस्थ - सब जीवों के प्रति समभाव - राग द्वेष के अभाव वाले परिणाम। आय अर्थात् ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूप लाभ, इक भाव में प्रत्यय है।

1. ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप भाव हो उसे सामायिक कहते हैं।
2. सर्व जीवों के साथ मैत्रीभाव हो, उसे सामायिक कहते हैं।
3. जो मोक्ष प्राप्त करने में ज्ञान, दर्शन, चारित्र का एक समान सामर्थ्य प्राप्त करावे उसे सामायिक कहते हैं।
4. सब प्रकार के राग द्वेष उत्पन्न करानेवाले परिणामों को समाप्त कर देने का प्रयास करना सामायिक है।
5. मन वचन और काया को स्थिर कर समत्व योग की प्राप्ति के मार्ग में प्रयाण करना सामायिक है।
6. सावद्य प्रवृत्तियों पर अरुचि, पाप का पश्चाताप, समता और मुक्ति के लिए प्रयास करना सामायिक है।

✽ **सामायिक के पात्र भेद से दो भेद है :-**

1. गृहस्थ की सामायिक और
2. श्रमण की सामायिक

1. **गृहस्थ** की एक सामायिक एक मुहूर्त यानी 48 मिनट की होती है। अधिक समय के लिए भी वह अपनी स्थिति के अनुसार सामायिक व्रत कर सकता है।

2. **श्रमण** की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है।

गृहस्थ को सामायिक ग्रहण करने के पूर्व आसन, चरवला, मुहपत्ती आदि धार्मिक उपकरण एकत्रित कर एक स्थान में अवस्थित होना चाहिए। ये सब वस्तुएँ उत्तम, स्वच्छ एवं सादगीपूर्ण होनी चाहिए।

साधक आत्मभाव में स्थिर रहता है। सामायिक में आत्मभाव का चिंतन इस प्रकार किया जाता है।

1. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं अपनी चित्तवृत्तियों को शांत करता हूँ।
2. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ ? अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं समभाव में स्थिर होता हूँ।
3. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ ? अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं माध्यस्थ भावना का सेवन करता हूँ।
4. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ ? अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं विश्वदृष्टि जागृत करता हूँ।
5. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ ? अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं समदृष्टि की वृद्धि करता हूँ।
6. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ ? अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं समता में रहकर समता रस का आस्वादन करता हूँ।
7. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ ? अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं आत्म ज्ञान में प्रवेश कर रहा हूँ।
8. प्र :- मैं सामायिक करता हूँ ? अर्थात् क्या करता हूँ ?  
उ :- मैं तृष्णा का त्याग कर रहा हूँ।

### \* सामायिक करने की विधि

शुद्ध वस्त्र पहनकर आसन (कटासणा), चरवला और मुहपत्ति लेकर शुद्ध पवित्र स्थान पर चरवले से भूमि को साफ कर आसन को बिछावें। रागद्वेष रहित शांत स्थिति में 2 घड़ी (48 मिनट) तक आसन पर रहकर विधिपूर्वक सामायिक व्रत ग्रहण करें।



सामायिक में आत्म तत्त्व की विचारणा, अशुभ भावों की शुद्धि, जीवन विकासक धर्मशास्त्रों का अध्ययन एवं चिंतन, आध्यात्मिक स्वाध्याय अथवा परमात्मा की भक्ति भावनाओं का चिंतन, ध्यान, जाप आदि जो अपने मन को अधिक प्रसन्न चित्त एवं स्थिर करें, वह करें।

सामायिक में रहा हुआ जीव निंदा - प्रशंसा में समता रखे, मान - अपमान करनेवालों पर भी समभाव रखे।

उपयोग शून्य बनकर एक स्थान पर बैठे रहना ही सामायिक नहीं है। क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष आदि पर नियंत्रण कर, पापयुक्त क्रियाओं को रोककर, समस्त चराचर जीवों के साथ



समभाव रखकर “करेमि भंते” की प्रतिज्ञा लेकर और आधि-व्याधियों को भूलकर की जानेवाली सामायिक ही श्रेष्ठ उत्तम फल देनेवाली है। करेमि भंते की प्रतिज्ञा सक्ख्य हो वहाँ तक गुरु से अथवा अन्य कोई सामायिक में हो उनके पास लेनी चाहिए। व्याख्यान आदि क्रिया में स्वयं ही करेमि भंते की प्रतिज्ञा ले लेवें।

जितने समय तक सामायिक की जावे उतने समय तक संसार का त्याग किया जाता है। सामायिक में रहा हुआ श्रावक गृहस्थ होते हुए भी साधु तुल्य होता है। इसीलिए परमात्मा ने मानव को बार - बार सामायिक करने को कहा है।

देवता सामायिक नहीं कर सकते, तिर्यचों को भी यह दुर्लभ है, नारकियों के भाग्य में सामायिक है ही कहाँ? केवल मनुष्य के भाग्य में ही प्रधानतः सामायिक है।

**सामायिक की साधना के लिए चार विशुद्धियों का उल्लेख किया जा रहा है :-**

1. काल विशुद्धि 2. क्षेत्र विशुद्धि 3. द्रव्य विशुद्धि और 4. भाव विशुद्धि

**1. काल विशुद्धि :-** साधु यावज्जीवन सामायिक में ही रहते हैं। गृहस्थ को सामायिक के लिए योग्यकाल का निर्णय करना काल विशुद्धि है।

सामायिक की साधना के लिए गृहस्थ के हेतु सभी काल उचित नहीं कहे जाते। सर्वप्रथम शारीरिक दृष्टि से मलमूत्र आदि के आवेगों के होते हुए सामायिक करना उचित नहीं माना जाता है।

भूख, प्यास आदि से अति व्याकुल स्थिति में भी सामायिक की साधना सम्भव नहीं होती।

सामायिक के लिए वही काल उचित हो सकता है, जब व्यक्ति शारीरिक और मानसिक आवेगों तथा पारिवारिक और व्यावसायिक दायित्वों से मुक्त होकर सामायिक की साधना करें, व्यक्ति को उचित और अनुचित समय का विचार करना भी आवश्यक है।

गोचरी वोहराने के काल में तथा जिन पूजा करने इत्यादि समय में भी सामायिक करना उचित नहीं है।

यदि परिवार में कोई सदस्य बीमार हो और उसकी सेवा अपेक्षित हो, उस समय यदि सेवा को छोड़कर सामायिक करने बैठते हैं तो यह भी उचित नहीं कहा जा सकता।

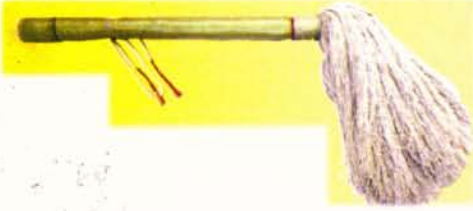
**दशवैकालिक सूत्र** में भी कहा गया है - **काले कालं समायरे** अर्थात् जिस कार्य को जिस समय करना हो, उसी समय वह कार्य करना उचित होता है। भगवान महावीर स्वामी ने साधुओं के लिए भी कहा है कि यदि बीमार साधु की सेवा शुश्रूषा को छोड़कर दूसरे साधु अन्य कार्य में व्यस्त रहे, तो प्रायश्चित आता है। बीमारी में पूर्ण रूप से सार सम्भाल करना आवश्यक है। इस प्रकार सामायिक के लिए योग्यकाल का निर्णय करना ही कालविशुद्धि है।

**2. क्षेत्र विशुद्धि :-** क्षेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहाँ साधक सामायिक करने के लिए बैठता है। वह स्थान योग्य हो पूर्णतः शुद्ध पवित्र हो। जिस स्थान पर बैठने से चित्त में विकृत भाव उठते हो, चित्त चंचल बनता हो और जिस स्थान पर स्त्री, पुरुष या पशु आदि का आवागमन अधिक होता हो, विषय विकार उत्पन्न करनेवाले शब्द कान में पड़ते हो, इधर - उधर दृष्टि करने से मन विचलित होता हो अथवा क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो ऐसे स्थानों पर बैठकर सामायिक करना उचित नहीं है। इस प्रकार **उपासकदशांग सूत्र** में इसका समर्थन किया गया है कि धर्माश्रम के लिए एकान्त कमरा, पौषधशाला, उपासना कक्ष, उपाश्रय,



स्थानक, कल्याणक भूमि, विशिष्ट साधकों की साधना भूमि आदि जहां चित्त स्थिर रह सके और आत्मचिंतन किया जा सके उसे ही उचित स्थान कहा गया है।

**3. द्रव्य विशुद्धि :-** द्रव्य का तात्पर्य सामायिक में उपयोगी साधनों से है। द्रव्य सामायिक में निम्न उपकरणों की आवश्यकता होती है - चरवला, आसन, मुँहपत्ति, वस्त्र, स्थापनाचार्य, माला, पुस्तक आदि जो उपकरण सामायिक या संयम की अभिवृद्धि में सहायक हो, ऐसे न्याय उपार्जित, अल्पारम्भ, अहिंसक एवं उपयोगी उपकरण हो, जिसके द्वारा जीवों की भलीभांति यतना हो सके, ऐसे उपकरण का सामायिक में उपयोग करना चाहिए।



**\* चरवला :-** सामायिक आदि क्रिया में पूंजने प्रमार्जन के लिए श्रावक - श्राविकाएँ ऊन का जो गुच्छा रखते हैं, उसको चरवला कहते हैं। साधु - साध्वी भी जीवरक्षा के लिए या पूंजने प्रमार्जन के लिए ऐसा ऊन का मोटा गुच्छा रखते हैं उसे ओघा या रजोहरण कहते हैं। स्थानकवासी परंपरा में पूंजने प्रमार्जन के लिए ऊन से बनी हुई पूंजनी रखते हैं।

चरवले शब्द का अर्थ है चर + वलो = चरवलो। चर अर्थात् चलना, फिरना, उठना अथवा बैठना। वलो अर्थात् पूंजना, प्रमार्जना। सामायिक में पूंजना - प्रमार्जना करके चलना, फिरना, उठना, बैठना चाहिए। यह जयणा का उत्तम साधन है। चरवला 32 अंगुल का होता है, 24 अंगुल की डंडी तथा 8 अंगुल की ऊन की फलियाँ।



**\* आसन :-** आसन को कटासन भी कहते हैं। आसन लगभग एक हाथ लंबा और सवा हाथ चौड़ा होता है। यह सादा एवं ऊनी हो, जिससे जीवों की यतना सम्यक् प्रकार से हो सके।



**\* मुहपत्ति या मुखवस्त्रिका :-** मुख के आगे रखने का वस्त्र। मुख्य रूप से तो मुँहपत्ति हमें ऐसा पारमार्थिक बोध देती है कि सामायिक में सावद्य (हिंसा एवं पापजनक) वचन नहीं बोलने चाहिए। बोलते समय भाषा समिति का ध्यान रखना। वचन गुप्ति को धारण करना। उत्सूत्र, अहितकारी, असत्य, अप्रिय वचन न बोलना।

दूसरे प्रकार के विचार करने से ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञानोपकरण के उपर थूक न पड़ने से विनय होता है। इस रूप में लगनेवाली आशातना का त्याग हो जाता है। मुहपत्ति का उपयोग विवेकपूर्वक करने में आये तो मक्खी, मच्छर आदि त्रस एवं वायुकाय के जीवों के संरक्षण का लाभ भी प्राप्त होता है।



**\* स्थापनाचार्य :-** मंदिरमार्गी परंपरा में सामायिक करते समय गुरु रूप में स्थापनाचार्य की स्थापना की जाती है। स्थापनाचार्य की साक्षी से धर्मक्रिया विशेष दृढ़ होती है। स्थापना दो प्रकार की होती है।





1. **सद्भाव स्थापना** :- गुरु मूर्ति की स्थापना

2. **असद्भाव स्थापना** :- अर्थात् आकृति बिना कोई भी पवित्र पदार्थ जैसे डांडा, पाटी, पुस्तक आदि स्थापना करके उसमें गुरु के गुणों का आरोपण करना।



**\* पुस्तकादि** :- ऊपर कहे हुए उपकरणों के अलावा पुस्तक, ठवणी, माला इत्यादि जिन साधनों से सामायिक का काल सुख रूप से निकले, समता का लाभ मिले, ज्ञान की वृद्धि हो, आत्मा निर्मल बने ये सब यथा आवश्यक उपकरण साथ में रखने चाहिए।

सामायिक में आभूषण आदि धारण करके बैठना भी उचित नहीं माना गया है, क्योंकि सामायिक त्याग का क्षेत्र है। अतः उसमें त्याग का भाव होना आवश्यक है।

सामायिक के वस्त्र कटे - फटे, मैले एवं अशुद्ध न हों। वस्त्र श्वेत, मर्यादित, स्वच्छ, धोये हुए या नवीन होने चाहिए। क्योंकि बाह्य उज्ज्वलता से भावों की उज्ज्वलता पर प्रभाव पड़ता है। सर्दी आदि के मौसम में शक्ति अनुसार गर्म शाल का उपयोग कर सकते हैं। ऐसा उल्लेख आचार्य हरिभद्रसूरि तथा आचार्य अभयदेवसूरि आदि के ग्रन्थों में मिलता है।

द्रव्यशुद्धि की इसलिए आवश्यकता है कि द्रव्यशुद्धि से भावशुद्ध होते हैं। अच्छे बुरे पुद्गलों का मन पर असर होता है। अतः मन में अच्छे विचार एवं सात्विक भाव स्फुरित करने के लिए द्रव्यशुद्धि साधारण साधक के लिए भी आवश्यक है।

4. **भाव विशुद्धि** :- द्रव्यविशुद्धि, क्षेत्रविशुद्धि और कालविशुद्धि साधना के बहिरंग तत्त्व हैं और भावविशुद्धि आत्मा का अंतरंग तत्त्व है। भावविशुद्धि अर्थात् मन की विशुद्धि। मन की शुद्धि ही सामायिक की साधना का सर्वस्व सार है। जीवन को उन्नत बनाने के लिए मन, वचन और काया से होनेवाली दुष्प्रवृत्तियों को रोकना होगा। अंतरात्मा में मलिनता पैदा करनेवाले दोषों का त्याग करना होगा। आर्त और रौद्रध्यान से बचना होगा। तब ही व्यक्ति का चित्त सामायिक में एकाग्र बन सकता है। ये चारों प्रकार की विशुद्धि सामायिक के लिए आवश्यक है।

**\* सामायिक का महात्म्य** :- सामायिक मोक्षांग है। मोक्षांग कहने के कारण सामायिक का सबसे अधिक महात्म्य बताया गया है। सामायिक की साधना के विषय में गौतमस्वामी ने भगवान महावीरस्वामी से प्रश्न किया कि

प्र. सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ. सामाइएणं सावज्जजोग विरइं जणयइ ॥

भगवान ! सामायिक करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

हे गौतम ! सामायिक द्वारा आत्मा सावद्योग की प्रवृत्ति से विरति होती है। सामायिक की साधना आत्मा को अशुभ वृत्ति से हटाकर शुभ में जोड़ती है और शुभ से शुद्ध की ओर ले जाती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने **अष्टक प्रकरण** में कहा है - सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घाती कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। एक आचार्यश्री ने तो लिखा है :-

“दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवत्तस्स खंडियं एगो।  
एगो पूण सामाइय करेइ न पहुप्पए तस्स।।”

अर्थात् कोई प्रतिदिन लाख सोने की मोहरें दान करें और कोई एक सामायिक करें तो सामायिक करनेवाले की बराबरी में वह लाख मोहरों का दान करनेवाला नहीं हो सकता। कहीं कहीं ऐसा भी कहा गया है कि कोई लाख मोहरों का दान लाख वर्ष तक नित्य करता रहे तो भी एक सामायिक की बराबरी नहीं हो सकती। क्योंकि करोड़ जन्म तक उत्कृष्ट तप की साधना करने पर भी जो कर्म नष्ट नहीं होते वे कर्म सामायिक में उत्कृष्ट भाव में लीन साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर देता है। आवश्यक चूर्णि में भी कहा है कि जब सर्व विरति सामायिक करने की शक्ति न हो तो देशविरति सामायिक ही कई बार करनी चाहिए। आत्मकल्याण चाहनेवालों को नित्य समय निकालकर सामायिक अवश्य करनी चाहिए।

शास्त्रों में एक सामायिक का लाभ 925925925 3/8 पत्थोपम देव आयुष्य का बंध बताया गया है।



पूणिया श्रावक की सामायिक तो शास्त्र प्रसिद्ध है। वे प्रतिदिन सामायिक करते थे। उनकी एक सामायिक का मूल्यांकन करना भी असंभव था भगवान महावीर स्वामी ने समोसरण में श्रेणिक राजा के सन्मुख अपने श्रीमुख से पूणिया श्रावक की सामायिक की प्रशंसा की थी। इससे स्पष्ट है कि उनकी सामायिक कितनी श्रेष्ठ थी।

**\* सामायिक के 32 दोष :-** सामायिक साधना में साधक को अत्यंत जागरूक रहना चाहिए। उसे मन, वचन और काया के दोषों से बचना चाहिए। सामायिक के कुल 32 दोष बताये हैं। जिसका विवेचन जैन धर्म दर्शन (भाग 2) के सूत्र विभाग में सामायिक पारने के सूत्र (पेज नं. 88) में किया गया है।

\*\*\*\*



## \* चतुर्विंशतिस्तव \*



चौवीस तीर्थकरों या वीतराग देवों की स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव है। साधक, स्तुति द्वारा वीतराग परमात्मा के गुणों का गुणगान करता है। उनकी स्तुति या भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है।

तीर्थकर त्याग और वैराग्य की दृष्टि से, संयम साधना की दृष्टि से महान् है। उनके गुणों का कीर्तन करने से साधक के अन्तर्हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। संसार में जो शुभतर परमाणु है, उनसे तीर्थकर का शरीर बनता है, इसलिए **रूप** की दृष्टि से भी तीर्थकर महान् है।

तीर्थकर मति, श्रुत व अवधिज्ञान के साथ जन्म लेते हैं। दीक्षा अंगीकार करते ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो जाता है और साधना के पश्चात् उनमें केवलज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, अतः **ज्ञान की दृष्टि** से तीर्थकर महान् है। **दर्शन** की दृष्टि से तीर्थकर क्षायिक

सम्यक्त्व के धारक होते हैं। उनका **चारित्र** उत्तरोत्तर विकसित होता है। छद्मस्थ काल में उनके परिणाम सदा वर्धमान में रहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ ही दान में उनकी बराबरी कोई भी नहीं कर सकता। वे दीक्षा के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का **दान** देते हैं। वे श्रेष्ठ **ब्रह्मचारी** होते हैं। साधना काल में देवांगनाएं भी अपने अद्भुत रूप में उनको आकर्षित नहीं कर पाती। तप काल में तीर्थकर जल भी ग्रहण नहीं करते। **भावना** के क्षेत्र में तीर्थकरों की भावना उत्तरोत्तर निर्मल और निर्मलतम होती जाती हैं। इस प्रकार तीर्थकरों का जीवन विविध विशेषताओं से परिपूर्ण है। साधक भी अपने हृदय में तीर्थकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना प्रकट करता है। वह विचार करता है - हे भगवन ! किसी जन्म में आप और मैं एक साथ खाते - पीते और खेलते थे। सुख - दुःख में एक दूसरे को साथ देते थे। अपने दोनों में घनिष्ट मित्रता थी। अपनी दोनों की आत्मा भी समान है। फिर भी आप कर्म रहित हो गये और मैं कर्म से जकड़ा हूँ, आप मोक्ष में बिराजित है और मैं अज्ञान दशा में पाप करता हुआ चारों गति में भटक रहा हूँ। इस तरह परमात्मा आपका अतीत और मेरा अतीत समान है, वर्तमान में अंतर हो गया है।

एक काल में एक स्थान पर अनेक केवली हो सकते हैं, पर तीर्थकर एक ही होता है। प्रत्येक साधक प्रयत्न करने पर केवली बन सकता है किंतु स्वभाविक रूप से विशिष्ट योग्यता प्राप्त जीव ही तीर्थकर नाम कर्म का बंध कर तीर्थकर बन सकता है। तीर्थकरत्व उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। तीर्थकरों के गुणों का उत्कीर्तन करने से हृदय पवित्र होता है, वासनाएँ शांत होती हैं। जैसे तीव्र ज्वर के समय चंदन का लेप लगाने से ज्वर शांत हो जाता है, उसी प्रकार जब जीवन में वासना का ज्वर बेवैनी पैदा करता हो, उस समय तीर्थकरों का स्मरण चंदन के लेप की तरह शांति



प्रदान करता है। जब हम तीर्थकरों की स्तुति करते हैं तो प्रत्येक तीर्थकर का एक उज्ज्वल आदर्श हमारे सामने रहता है। भगवान् ऋषभदेव का स्मरण आते ही आदियुग का चित्र मानस पटल पर चमकने लगता है। वह सोचने लगता है कि भगवान् ने इस मानव संस्कृति का निर्माण किया। राज्यव्यवस्था का संचालन किया। मनुष्य को कला, सभ्यता और धर्म का पाठ पढ़ाया। राजसी वैभव को छोड़कर वे श्रमण बने। लगभग 400 दिन तक आहार - पानी न मिलने पर भी चेहरा प्रसन्नचित्त रहा। भगवान् शांतिनाथ का जीवन शांति का महान् प्रतीक है। भगवती मल्लीनाथ का जीवन नारी जीवन का एक ज्वलंत आदर्श है। भगवान् अरिष्टनेमि करुणा के साक्षात् अवतार है। पशु-पक्षियों की प्राण रक्षा के लिए वे सर्वांगसुंदरी राजीमती का भी परित्याग कर देते हैं। भगवान् पार्श्व का स्मरण आते ही उस युग की तप परंपरा का एक रूप सामने आता है, जिसमें ज्ञान की ज्योति नहीं है, अंतर्मानस में कषायों की ज्वालाएँ धधक रही हैं तो बाहर भी पंचाग्नि की ज्वालाएँ, सुलग रही हैं। वे उन ज्वालाओं में से जलते हुए नाग को बचाते हैं। कमठ के द्वारा भयंकर यातना देने पर भी उनके मन में रोष पैदा नहीं हुआ और धरणेन्द्र पद्मावती के द्वारा स्तुति करने पर भी मन में प्रसन्नता नहीं हुई। यह है उनका वीतरागी रूप। भगवान् महावीर का जीवन महान् क्रान्तिकारी जीवन है। अनेक अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से भी वे तनिक मात्र भी विचलित नहीं हुए। आर्यों और अनार्यों के द्वारा देवों और दानवों के द्वारा, पशु - पक्षियों के द्वारा दिए गए उपसर्गों में वे मेरु की तरह अविचल रहे। जाति - पांति का खण्डन कर वे गुणों की महत्ता पर बल दिया। नारी जाति को प्रतिष्ठा प्रदान की।

24 तीर्थकरों के काया के अपने - अपने वर्ण हैं और उन वर्ण का ध्यान भी लोगस्स सूत्र के माध्यम से किया जा सकता है। इससे शरीर में पंच भूतों की विशुद्धि होती है एवं सभी चक्रों की भी विशुद्धि होती है। विशुद्धि आध्यात्मिक जीवन उत्थान के लिए होती है। तीर्थकर तो साधनामार्ग के आलोक स्तंभ हैं। आलोक स्तंभ जहाज का पथ प्रदर्शन करता है, पर चलने का कार्य तो जहाज का ही है। वैसे ही साधना की ओर प्रगति करना साधक का कार्य है। जैन दृष्टि से व्यक्ति का लक्ष्य स्वयं का साक्षात्कार है। अपने में रही हुई शक्ति की अभिव्यक्ति करना है। साधक के अंतर्मानस में जिस प्रकार की श्रद्धा / भावना होगी, उसी प्रकार का उसका जीवन बनेगा। जिस घर में गरुड पक्षी का निवास हो, उस घर में साँप नहीं रह सकता। साँप गरुड की प्रतिच्छाया से भाग जाते हैं। जिनके हृदय में तीर्थकरों की स्तुति रूप गरुड आसीन है, वहाँ पर पाप रूपी साँप नहीं रह पाते। तीर्थकरों का पावन स्मरण ही पाप को नष्ट कर देता है।

एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की भगवन्! चतुर्विंशतिस्तव करने से किस सद्गुण की उपलब्धि होती है? भगवान् महावीरस्वामी ने समाधान करते हुए कहा:- चतुर्विंशतिस्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। चतुर्विंशतिस्तव के अनेक लाभ हैं। उससे श्रद्धा परिमार्जित होती है, सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परीषहों को समभाव से सहन करने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थकर बनने की पवित्र प्रेरणा मन में जागृत होती है। इसलिए षडावश्यकों में तीर्थकरस्तुति या चतुर्विंशतिस्तव को स्थान दिया गया है।



## \* वंदन

साधना क्षेत्र में तीर्थंकर के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। तीर्थंकर देव है। देव के पश्चात् गुरु को नमन किया जाता है। साधक को अपनी साधना करने से पहले गुरु को वंदन कर उनकी आज्ञा लेना अनिवार्य होता है। क्योंकि साधक की साधना गुरु के मार्गदर्शन से होती है। अकेला साधक मूढ के तुफान में उलझ सकता है।



वंदन मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार है जिसमें गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है। इसमें उन व्यक्तियों को प्रणाम किया जाता है, जो वीतराग की आज्ञा में हैं, जो सद्गुणी हैं, जो योग्यता को प्राप्त हैं, जो साधना के पथ पर आगे बढ़े हुए हैं।

**\* सद्गुणी को नमस्कार :-** यह सत्य है कि मानव का मस्तिष्क हर किसी के चरणों में नहीं झुक सकता और झुकना भी नहीं चाहिए। जो सद्गुणी है उन्हीं के चरणों में झुकना चाहिए। सद्गुणों को नमन करने का अर्थ है, सद्गुणों को अपनाना यदि साधक असंयमी पतित व्यक्ति को नमस्कार करता है, जिसके जीवन में दुराचार पनप रहा हो, वासनाएँ उभर रही हो। राग द्वेष की ज्वालाएँ धधक रही हो, जिनके खुद की आचार शिथिलता का मन में जरा भी दर्द न हो और जो मुक्त रूप से अनाचार का सेवन करते हुए समर्थन करते हो, उस व्यक्ति को नमन करने का अर्थ है उनके दुर्गुणों को प्रोत्साहन देना। आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ऐसे गुणहीन व्यक्तियों को नमस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुणों से रहित व्यक्ति अवंदनीय होते हैं। अवंदनीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती और न कीर्ति बढ़ती है। असंयम और दुराचार का अनुमोदन करने से नये कर्म बंधते हैं। अतः उनको वंदन व्यर्थ है। मात्र काय - क्लेश है।

वंदन करनेवाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोक आदेयता प्राप्त करता है। अपने अहंकार को नष्ट करता है। सद्गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा प्रकट होती है। तीर्थंकरों की आज्ञा पालन करने से शुद्धधर्म की आराधना होती है। भगवती सूत्र के अनुसार वंदन के फलस्वरूप गुरुजनों के सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्रश्रवण, शास्त्रश्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम - अनाश्रव - तप, कर्मनाश, अक्रिय, एवं अंत में सिद्धि की उपलब्धि होती है।

वंदन के विषय में गौतमस्वामी ने भगवान महावीरस्वामी से प्रश्न किया कि भगवन ! वंदन करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? भगवन ने उत्तर दिया।

गौतम ! वंदन द्वारा आत्मा नीच गोत्र रूप बंधे हुए कर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र कर्म को बाँधता है तथा ऐसा सौभाग्य प्राप्त करता है कि उसकी आज्ञा निष्फल नहीं जाती है। सभी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। साथ ही वंदना से लोगों को उचित कथन करने का सहज भाव प्राप्त होता है।

साधु जीवन में दीक्षा पर्याय के आधार पर वंदन किया जाता है। सभी पूर्व दीक्षित साधक वंदनीय होते हैं।

सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी को भी आज के दीक्षित साधु को वंदन करने का विधान है। गृहस्थ साधकों के लिए सभी साधु - साध्वी तथा आयु में बड़े गृहस्थ वंदनीय है।

जिस वंदन में भक्ति नहीं हो, केवल भय, स्वार्थ, प्रलोभन, आकांक्षा, प्रतिष्ठा आदि भवानाएँ पनप रही हो, वह वंदन केवल द्रव्य वंदन है, भाव वंदन नहीं है। द्रव्य वंदन कितनी ही बार कर्मबंधन का कारण भी बन जाता है। पवित्र और निर्मल भावना के द्वारा किया गया वंदन ही सही वंदन है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है द्रव्य वंदन मिथ्या दृष्टि भी करता है, किंतु भाव वंदन तो सम्यक्दृष्टि ही करता है।

आवश्यकचूर्ण में द्रव्य और भाव वंदन को स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक प्रसंग दिया है - एक बार भगवान अरिष्टनेमि द्वारका नगरी पधारे। वहाँ श्री कृष्ण वासुदेव भगवान को वंदन करने के लिए पहुँचे। श्री कृष्ण के मन में एक विचार आया कि जब भी भगवान पधारते हैं, भगवान को वंदन करने के लिए मैं प्रतिदिन पहुँचता हूँ और जो विशिष्ट साधु है, उन्हीं को मैं वंदन कर भगवान का उपदेश सुनने के लिए बैठ जाता हूँ पर आज मैं सभी साधुओं को वंदन करूँगा और उसी तीव्र भावना से श्री कृष्ण वासुदेव ने 18000 साधुओं को विधिपूर्वक वंदना की। श्री कृष्ण के साथ उनका अनुचर वीरकौलिक भी था।

उसने भी श्री कृष्ण की देखा-देखी सभी साधुओं को वंदन किया। जब भगवान से पूछा गया कि भगवन् ! श्री कृष्ण और वीरकौलिक दोनों ने साधुओं को वंदन किया है। दोनों की वंदन क्रिया भी समान रही। कृपा कर बताइए कि दोनों में से किसे अधिक लाभ हुआ और किसे कम लाभ हुआ ?

भगवान ने कहा - श्री कृष्ण ने द्रव्यवंदन के साथ भाव वंदन भी किया। द्रव्यवंदन के साथ ही उसमें भावों की उत्कृष्ट तीव्रता थी। जिसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया तथा तीर्थंकर नामकर्म का भी अनुबंधन किया। किंतु वीर कौलिक का वंदन भाव रहित वंदन था। उसने केवल द्रव्य वंदन ही किया। श्री कृष्ण को प्रसन्न करना ही उसका उद्देश्य था जिसके कारण उसे केवल श्रीकृष्ण की प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त कुछ भी लाभ न हुआ।

द्रव्य वंदन अभव्य जीव भी करता है। उसकी वह क्रिया केवल यांत्रिक क्रिया होती है। उसे उससे किसी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। इसलिए वंदन के लिए द्रव्य और भाव दोनों ही आवश्यक है।



### प्रतिक्रमण:-

प्रतिक्रमण जैन परंपरा का एक विशिष्ट शब्द है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है वापस लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर, अपनी स्वभाव दशा से निकलकर विभाव दशामें चले गये, अतः पुनः स्वभाव में लौट आना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु, किये गए पापों की आलोचना करना, निंदा करना प्रतिक्रमण है। **कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य** ने लिखा है शुभ योगों में से अशुभ योगों में गये हुए अपने आप को पुनः शुभ योगों में लौट आना प्रतिक्रमण है। व्रतों में लगे अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिदिन

यथासमय यह चिंतन करना कि आज आत्मा व्रत से अव्रत में कितनी गयी ? कषाय की ज्वाला कितनी बार प्रज्ज्वलित हुई ? और हुई तो निमित्त क्या बना ? क्रोध के आवेश में जो शब्द कहे, वे उचित थे या अनुचित, यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ, तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभ योग में आना चाहिए। इस प्रकार से चिंतन मनन करके इसकी शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण है।

आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्ण, आदि प्रभृति ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के संबंध में बहुत विस्तार के साथ विचार चर्चाएं की गई हैं। उन्होंने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द भी दिए हैं, जो प्रतिक्रमण के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। यद्यपि आठों का भाव एक ही है किंतु ये शब्द प्रतिक्रमण के संपूर्ण अर्थ को समझने में सहायक हैं। वे इस प्रकार हैं -

1. **प्रतिक्रमण** - इस शब्द में 'प्रति' उपसर्ग है और 'क्रम' धातु है। प्रति का तात्पर्य है - प्रतिकूल और क्रम का तात्पर्य है, पदनिक्षेप। जिनप्रवृत्तियों से साधक सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य रूप स्वस्थान से हटकर, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम रूप परस्थान में चला गया हो उसका पुनः अपने आप में लौट आना।

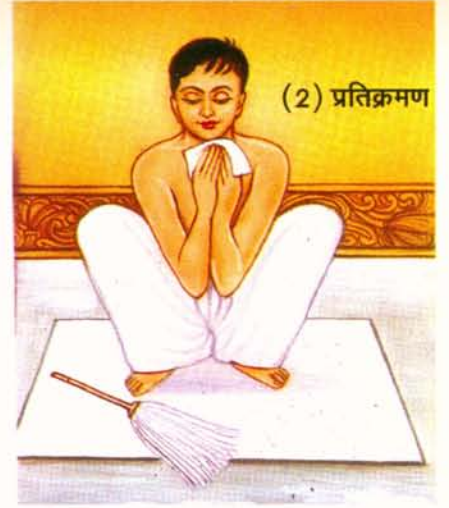
2. **प्रतिचरण** :- हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं संयम के क्षेत्र में अग्रसर होना।

3. **परिहरण** :- सब प्रकार के अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का त्याग करना।

4. **वारण** :- जिनशासन की आज्ञा के विरुद्ध कार्य नहीं करना।

5. **निवृत्ति** :- अशुभ भावों को रोकना।

6. **निंदा** :- गुरुजन, वरिष्ठजन अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्व में जो भी पापयुक्त प्रवृत्ति हुई हो, उन अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिए पश्चाताप करना।





7. **गर्हा** :- गुरुओं के समक्ष निःशल्य होकर अपने पापों को प्रकट करना।

8. **शुद्धि** :- शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। प्रतिक्रमण आलोचना, निंदा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध बनाए, इसलिए उसे शुद्धि कहा गया है।

**अनुयोगद्वारसूत्र** में प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताए गये हैं - द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण।

**द्रव्य प्रतिक्रमण** में साधक एक स्थान पर स्थिर होकर बिना उपयोग के यशप्राप्ति आदि की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यंत्र की तरह चलता है, उसमें चिंतन का अभाव होता है। पापों के प्रति मन में ग्लानि नहीं होती। वह पुनः पुनः उन गलतियों को करता रहता है। वास्तविक दृष्टि से जैसी शुद्धि होनी चाहिए, वह उस प्रतिक्रमण से नहीं हो पाती है।

**भाव प्रतिक्रमण** वह है, जिसमें साधक के अन्तर्मनस में पापों के प्रति तीव्र पश्चाताप होता है। वह सोचता है, मैंने इस प्रकार गलतियाँ क्यों की ? वह दृढ़ निश्चय के साथ उपयोगपूर्वक उन पापों की आलोचना करता है। भविष्य में वे दोष पुनः न लगे। इसके लिए दृढ़ संकल्प करता है। इस प्रकार भाव प्रतिक्रमण वास्तविक प्रतिक्रमण है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीतकाल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है। पर आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने बताया की प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल में लगे दोषों की ही परिशुद्धि नहीं करता अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल में लगे हुए दोषों की शुद्धि तो आलोचना प्रतिक्रमण में की ही जाती है, वर्तमान में भी साधक संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है। भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान में शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्य में भी शुभ योग में प्रवृत्ति करूंगा, इस प्रकार वह संकल्प करता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार भी बताए हैं - 1. दैवसिक 2. रात्रिक 3. पाक्षिक 4. चातुर्मासिक और 5. सांवत्सरिक

1. **दैवसिक** :- दिन के अंत में किया जानेवाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

2. **रात्रिक** :- रात्री के अंत में किया जानेवाला प्रतिक्रमण रात्रिक है।

3. **पाक्षिक** :- पंद्रह दिन के अंत में पापों की आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

4. **चातुर्मासिक** :- चार मास में हुए पापों की शुद्धि के लिए आषाढ, कार्तिक एवं फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी/पूर्णिमा के दिन जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह चातुर्मासिक है।

5. **सांवत्सरिक** :- वर्ष संबंधी पापों की शुद्धि के लिए भाद्रशुक्ल चतुर्थी/पंचमी के दिन संध्या को जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह सांवत्सरिक है।

यहाँ पर यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि जब साधक प्रतिदिन प्रातःसायं नियमित प्रतिक्रमण करता है, फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है ? समाधान- प्रतिदिन मकान की सफाई की जाती है तथापि पर्व दिनों में विशेष सफाई की जाती है, वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण में



अतिचारों की आलोचना की जाती है, पर पर्व दिनों में विशेष रूप से जागरुक रहकर जीवन का निरीक्षण, परीक्षण और पाप का प्रक्षालन किया जाता है।

पर्व के दिनों में काल बल बड़ा ही प्रभावित होता है। अतः उन दिनों में किये गये प्रतिक्रमण से शेष बचे हुए गहरे पापों का भी विशेष रूप से प्रक्षालन हो जाता है।

प्रतिक्रमण किसका :- **स्थानांग सूत्र** में छः प्रकार के प्रतिक्रमण का निर्देश किया है।

1. **उच्चार प्रतिक्रमण** :- मल आदि परठने के समय आने जाने के मार्ग में गमनागमन संबंधी जो दोष लगते हैं, उनका प्रतिक्रमण।
2. **प्रश्रवण प्रतिक्रमण** :- मूत्र को परठने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना।
3. **इत्वर प्रतिक्रमण** :- दैवसिक, रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना।
4. **यावत्कथिक प्रतिक्रमण** :- संपूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होने का जो संकल्प किया जाता है। वह यावत्कथिक प्रतिक्रमण है।
5. **यत्किंचित मिथ्या प्रतिक्रमण** :- सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार असंयम रूप आचरण हो जाने पर उसी समय उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चाताप करना।
6. **स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण** :- विकार वासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसके संबंध में पश्चाताप करना।

ये विवेचना प्रमुखतः साधुओं की जीवनचर्या से संबंधित हैं, किंतु गृहस्थ के लिए राई, दैवसिक आदि प्रतिक्रमण करने का विधान है। वंदितु सूत्र की गाथा में कहा गया है।

**पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं,**

**असद्दहणे अ तहा विवरीअ परुवणाए अ ॥**

प्रतिक्रमण पापों का करना है, और पाप के चार स्थान हैं

1. शास्त्र में जिनका निषेध किया है वैसे हिंसा, झूठ आदि पापों के अठारह स्थान हैं, उनका सेवन करना अतिक्रमण (पाप) है।
2. अपनी अपनी मर्यादा के अनुसार जो कार्य करने योग्य हो वह न करना अतिक्रमण है।
3. तत्वों के प्रति अश्रद्धा होना अतिक्रमण है।
4. सर्वज्ञ के वचनों के विपरित प्ररूपणा करना अतिक्रमण है।

इन चार प्रकार के पापों का प्रतिक्रमण करना है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के प्रथम व अंतिम तीर्थकरों के साधु - साध्वी, श्रावक - श्राविका को दोष लगे अथवा न लगे, दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य होता है। बीच में 22 तीर्थकरों के तथा महाविदेह क्षेत्र के साधु - साध्वी, श्रावक - श्राविका को दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता है, अन्यथा नहीं।

## ✽ कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो शब्द हैं। जिसका तात्पर्य है - काय (शरीर) का त्याग करना। लेकिन जीवित रहते हुए शरीर का त्याग संभव नहीं। यहाँ शरीर त्याग का अर्थ है शारीरिक चंचलता एवं देहासक्ति का त्याग। किसी सीमित समय के लिए शरीर के उपर रहे हुए ममत्व का परित्याग कर शारीरिक क्रियाओं की चंचलता को समाप्त करने का जो प्रयास किया जाता है, वह कायोत्सर्ग है। जैन साधना में प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व कायोत्सर्ग की परंपरा है। क्योंकि देह पर आसक्ति समाप्त करने के लिए कायोत्सर्ग आवश्यक है। शरीर की ममता साधना के लिए सबसे बड़ी बाधा है। कायोत्सर्ग में शरीर की ममता कम होने से साधक शरीर को सजाने - संवारने से हटकर आत्मभाव में लीन रहता है।



प्रत्येक साधक को प्रातः और संध्या के समय यह चिंतन करना चाहिए कि यह शरीर अलग है और मैं अलग हूँ। मैं अजर, अमर, अविनाशी हूँ। यह शरीर क्षणभंगुर है। कमल - पत्र पर पड़े हुए ओस बिंदु की तरह यह शरीर कब नष्ट हो जाये, कहा नहीं जा सकता।

प्रतिदिन जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह चेष्टा कायोत्सर्ग है अर्थात् उसमें एक निश्चित समय के लिए समग्र शारीरिक चंचलताओं का निरोध किया जाता है एवं उस समय शरीर पर होनेवाले उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन किया जाता है। वह देह में रहकर देहातीत स्थिति में रहता है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने लिखा है - कायोत्सर्ग की स्थिति में साधक को यदि कोई भक्तिभाव से चंदन लगाये या कोई द्वेषपूर्वक कुल्हाड़ी से शरीर का छेदन करे, चाहे उसका जीवन रहे, या उसी क्षण मृत्यु आ जाए वह सब स्थितियों में यदि समभाव रखता है। तभी उसका कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है। कायोत्सर्ग के समय देव, मानव और तिर्यञ्च संबंधी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर जो साधक उन्हें समभावपूर्वक सहन करता है, उसीका कायोत्सर्ग वस्तुतः सही कायोत्सर्ग है।



✽ कायोत्सर्ग की मुद्रा :- सामान्यतः कायोत्सर्ग तीन मुद्राओं में किया जा सकता है।

1. जिनमुद्रा में खड़े होकर
2. पद्मासन या सुखासन में बैठकर
3. लेटकर

कायोत्सर्ग की अवस्था में शरीर को शिथिल करने का प्रयास करना चाहिए।



✽ कायोत्सर्ग के प्रकार :- कायोत्सर्ग के दो प्रकार बताये गये हैं :- 1. द्रव्य कायोत्सर्ग 2.



## भाव कायोत्सर्ग

1. **द्रव्य कायोत्सर्ग** में शारीरिक चंचलता और ममता का त्याग कर जिनमुद्रा आदि में स्थिर होना, कायचेष्टा का निरोध करना। इसमें बाह्य वस्तुओं का भी परित्याग किया जाता है, जैसे उपधि का त्याग करना और खाने-पीने का त्याग करना आदि।

2. **भाव कायोत्सर्ग** ध्यान है। इसमें साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता है। मन को पवित्र विचार और संकल्प से बांधता है जिससे वह किसी भी प्रकार की शारीरिक वेदना में जुड़ता नहीं है वह तन में रहकर भी तन से अलग आत्मभाव में रहता है।

### भाव कायोत्सर्ग में तीन बातें आवश्यक हैं

1. कषाय कायोत्सर्ग 2. संसार कायोत्सर्ग और 3. कर्म कायोत्सर्ग

1. **कषाय कायोत्सर्ग** में चारों प्रकार के कषायों का निरोध किया जाता है। क्षमा के द्वारा क्रोध को, विनय के द्वारा मान को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को जीता जाता है।

2. **संसार कायोत्सर्ग** में संसार का परित्याग किया जाता है। संसार चार प्रकार का है - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

\* **द्रव्य** :- चार गति रूप है।

\* **क्षेत्र** :- ऊर्ध्व, अधो और मध्यलोक रूप है।

\* **काल** :- एक समय से लेकर पुद्गल परावर्तन काल तक है।

\* **भाव** :- इन्द्रियों को विषयासक्ति रूप भाव है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल संसार का त्याग नहीं किया जा सकता। केवल भाव संसार का त्याग किया जा सकता है।

3. **कर्म कायोत्सर्ग** :- अष्ट कर्मों को नष्ट करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है।

\* **कायोत्सर्ग के दोष** :- कायोत्सर्ग सम्यग् प्रकार से संपन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि कायोत्सर्ग के दोषों से बचा जाए। प्रवचन सारोद्धार में कायोत्सर्ग के 19 दोष बताये हैं। जिसका विवेचन जैन धर्मदर्शन (भाग - 2) सूत्र अर्थ के विभाग में पृष्ठ 79 में किया गया है।

\* **कायोत्सर्ग से लाभ** :- कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना और मानसिक संतुलन बनाये रखना। मानसिक संतुलन बनाये रखने से बुद्धि निर्मल होती है और शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है।

**आचार्य भद्रबाहु स्वामी** ने कायोत्सर्ग के पाँच लाभ बताये हैं :-

1. **देह जाड्य बुद्धि** :- श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग में श्लेष्म आदि नष्ट होते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है।

2. **मति जाड्य बुद्धि** :- कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे चित्त एकाग्र होता है। बौद्धिक जड़ता समाप्त होकर उसमें तीक्ष्णता आती है।

3. **सुख - दुःख तितिक्षा** :- कायोत्सर्ग से सुख - दुःख को सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

4. **अनुप्रेक्षा** :- कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षा या भावना का स्थिरता पूर्वक अभ्यास करता है।

5. ध्यान :- कायोत्सर्ग में शुभध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है।

**प्रयोजन की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग के दो भेद किये हुए हैं :-** 1. चेष्टा कायोत्सर्ग और 2. अभिभव कायोत्सर्ग

1. **चेष्टा कायोत्सर्ग** :- दोष - विशुद्धि के लिए किया जाता है। जो साधु-साध्वी गोचरी आदि के लिए बाहर जाते हैं या निद्रा त्याग आदि में जो प्रवृत्ति होती है उसमें दोष लगने पर उसकी विशुद्धि के लिए यह कायोत्सर्ग किया जाता है।

2. **अभिभव कायोत्सर्ग** :- दो स्थितियों में किया जाता है :-

\* दीर्घकाल तक आत्मचिंतन के लिए या आत्मशुद्धि के लिए मन को एकाग्र कर कायोत्सर्ग करना।

\* संकट आने पर, राजा, अग्निकांड आदि।

षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग है उसमें चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का ध्यान किया जाता है। इसमें 7 श्लोक और 28 चरण हैं। एक उच्छवास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। सामान्यतः एक लोगस्स का ध्यान (चंदेसु निम्मलयरा तक) पच्चीस उच्छवासें में संपन्न होता है। इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग होता है।

\* \* \* \*

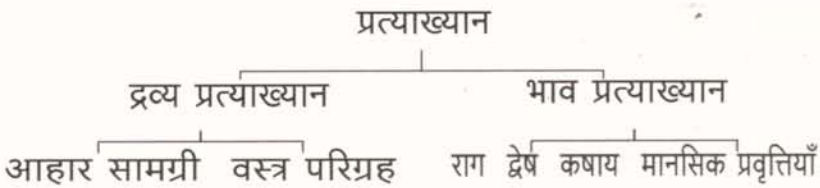


## प्रत्याख्यान :-

इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक कर्तव्य है। प्रति + आ + ख्यान, इन तीन शब्दों से प्रत्याख्यान शब्द बना है। प्रति का अर्थ है प्रतिकूल प्रवृत्ति, आ = मर्यादापूर्वक और ख्यान = कथन करना। प्रत्याख्यान का अर्थ है प्रवृत्ति को मर्यादित अथवा सीमित करना। अविरति और संयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादा के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है। संयमपूर्ण जीवन के लिए त्याग आवश्यक है, इस रूप में प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग माना गया है।

इस विराट् विश्व में इतने अधिक पदार्थ हैं, जिनकी परिगणना करना संभव नहीं और उन सब वस्तुओं को एक ही व्यक्ति भोगे, यह भी कभी संभव नहीं। चाहे कितनी भी लंबी उम्र क्यों न हो, तथापि एक मानव संसार की सभी वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकता। मानव की इच्छाएं असीम हैं। वह सभी वस्तुओं को पाना चाहता है। चक्रवर्ती सम्राट को सभी वस्तुएं प्राप्त हो जाए तो भी उसकी इच्छाओं का अंत नहीं आता है। इच्छाएं दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रहती हैं। इच्छाओं के कारण मानव के अंतर्मानस में सदा अशांति बनी रहती है। उस अशांति को नष्ट करने का एक मात्र उपाय है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान में साधक अनासक्ति का विकास एवं तृष्णा को नष्ट करता है। आत्मशुद्धि के लिए वह प्रतिदिन यथाशक्ति किसी न किसी प्रकार का त्याग करता है। जैसे सूर्य उदय के पश्चात् एक प्रहर अथवा दो प्रहर आदि तक कुछ नहीं खाना या संपूर्ण दिवस के लिए आहार का त्याग करना, केवल नीरस या रुखा भोजन करना आदि। अनुयोग द्वार में प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुण धारण दिया है। गुणधारण का अर्थ है व्रत रूपी गुणों को धारण करना।

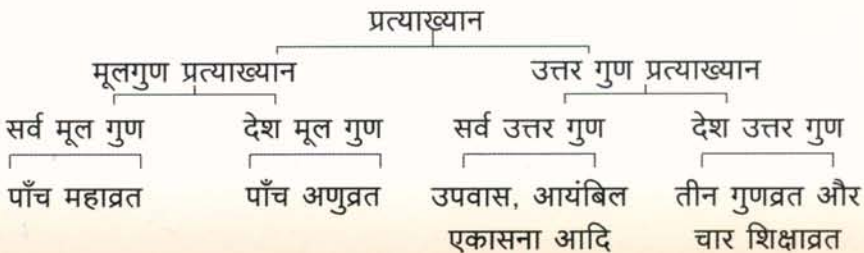
**\* प्रत्याख्यान के दो रूप हैं :-**



**1. द्रव्य प्रत्याख्यान :-** आहार सामग्री, वस्त्र, परिग्रह आदि बाह्य पदार्थों में से कुछ को छोड़ देना द्रव्य प्रत्याख्यान है।

**2. भाव प्रत्याख्यान :-** राग, द्वेष कषाय आदि अशुभ मानसिक वृत्तियों का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

इसी तरह प्रत्याख्यान के अन्य दो भेद भी कहे गए हैं।



1. **मूलगुण प्रत्याख्यान** यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है

इसके दो भेद हैं :-

\* **सर्व मूल गुणप्रत्याख्यान** :- साधु - साध्वी के पाँच महाव्रतों का प्रत्याख्यान।

\* **देश मूल गुण प्रत्याख्यान** :- श्रावक - श्राविका के पाँच अणुव्रतों के प्रत्याख्यान।

2. **उत्तर गुण प्रत्याख्यान** :- प्रतिदिन गृहण किया जाता है या कुछ दिनों के लिए। इसके भी दो भेद हैं।

\* **सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान** :- उपवास, आयंबिल, एकासना आदि के पचक्खाण जो गृहस्थ और साधु दोनों के लिए है।

\* **देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान** :- गृहस्थ के तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों के पचक्खाण।

भगवती सूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, पचक्खाण भाष्य आदि में प्रत्याख्यान के दस भेद हैं जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

1. **अनागत** :- अनागत अर्थात् भविष्यकाल जिस पचक्खाण को भविष्य में करने का है। उस पचक्खाण को किसी कारण वश पहले ही कर लेना पड़े उसे अनागत प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसे पर्युषण आदि पर्व में जो तप करना चाहिए, वह तप पहले कर लेना। जिससे कि पर्व के समय, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी आदि की सेवा की जा सके।

2. **अतिक्रान्त** :- कारणवश नियत समय के बाद तप करना। उसे अतिक्रान्त प्रत्याख्यान कहते हैं। पर्व तिथि के पश्चात् पर्व का तप करना। जो तप पर्व के दिनों में करना चाहिए, वह तप पर्व के दिनों में सेवा आदि का प्रसंग उपस्थित होने से न कर सकें तो उसे बाद में अपर्व के दिनों में करना चाहिए।

3. **कोटी सहित** :- जो तप पूर्व में चल रहा हो, उस तप को बिना पूर्ण किये ही अगला तप प्रारंभ कर देना। जैसे उपवास का पारणा किये बिना ही अगला तप प्रारंभ करना।

4. **नियंत्रित** :- जिस पचक्खाण को निश्चयपूर्वक किया जाता है। जिस दिन प्रत्याख्यान करने के विचार से उस दिन रोग आदि विशेष बाधाएँ उपस्थित हो जाए तो भी उन बाधाओं की परवाह किये बिना प्रत्याख्यान धारण कर लेना। यह तप वज्रऋषभनाराच संहनन धारी साधु ही कर सकते हैं।

5. **साकार** :- आगार सहित पचक्खाण करना। मन से अपवाद की कल्पना करके जो त्याग किया जाता है।

6. **निराकार** :- जिस तप में अपवाद रूप आगार न रखा जाए उसे निराकार पचक्खाण कहते हैं।

7. **परिमाणव्रत** :- जिसमें दत्ति आदि का परिमाण किया जाए। साधु गोचरी के लिए जाते समय या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं कि मैं आज इतना ही ग्रास ग्रहण करूँगा अथवा भोजन लेने के लिए गृहस्थ के यहाँ जाते समय मन में यह विचार करना कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तभी मैं ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।

8. **नीरविशेष** :- जिस पचक्खाण में अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का पूर्ण रूप से त्याग करना होता है उसे नीरविशेष प्रत्याख्यान कहते हैं।

9. **सांकेतिक** :- जो पचक्खाण संकेत पूर्वक किया जाता है। जिसमें गांठ आदि यथाविधि खोलने का



संकेत हो, जैसे मैं जब तक गांठ नहीं खोलूंगा तब तक मेरे प्रत्याख्यान है।

**10. अद्धा :-** अद्धा का अर्थ काल है। समय विशेष की मर्यादा निश्चित करके जो प्रत्याख्यान किया जाता है वह अद्धा प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यान के अंतर्गत 1. नवकारसी 2. पोरसी 3. परिमुद्ध 4. एकासणा 5. एकलठाणा 6. आयंबिल 7. उपवास 8. दिवसचरिम अथवा भवचरिम 9. अभिग्रह और 10. नीवी ये दस पच्चक्खाण आते हैं।

जिस समय गुरु पच्चक्खाण कराते हैं उसमें गुरु पच्चक्खाई शब्द कहते हैं, उस समय पच्चक्खाण लेनेवालों को पच्चक्खामि शब्द कहना चाहिए। अंत में करानेवाले वोसिरे कहते हैं तो करनेवाले को अवश्य वोसिरामी कहना चाहिए।

**\* प्रत्याख्यान के दोष :-** आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने प्रत्याख्यान के तीन दोष बताये हैं।

1. अमूक व्यक्ति ने पच्चक्खाण ग्रहण किया है, जिसके कारण उसका समाज में आदर हो रहा है, मैं भी इसी प्रकार का पच्चक्खाण करूं, जिससे मेरा आदर हो, ऐसी राग भावना को लेकर पच्चक्खाण करना।

2. दूसरों के प्रति दुर्भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना, मैं ऐसा पच्चक्खाण करूं, जिसके कारण जिन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, उनकी कीर्ति धुंधली हो जाए। इस प्रकार के पच्चक्खाण में तीव्र द्वेष भाव प्रकट होता है।

3. इस लोक में मुझे यश प्राप्त होगा और परलोक में भी मेरे जीवन में सुख और शांति मिलेगी, इस प्रकार की भावना से प्रत्याख्यान करना। इसमें यश की अभिलाषा, वैभव प्राप्ति की कामना आदि रही हुई है।

**\* पच्चक्खाण के आगारों का अर्थ :-**

ग्रंथों में दो प्रकार के प्रत्याख्यानों का उल्लेख मिलता है 1. अशुद्ध प्रत्याख्यान और 2. शुद्ध प्रत्याख्यान।

शुद्ध प्रत्याख्यान उसे कहते हैं जो प्रत्याख्यान करनेवाले और करानेवाले आगारों का अर्थ सुचारु रूप से जानते हों। आगार का अर्थ अपवाद माना गया है। अपवाद का अर्थ है - यदि किसी विशेष स्थिति में त्याग की हुई वस्तु सेवन कर ली जाए या करनी पड़ जाए तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। अतएव व्रत अंगीकार करते समय आवश्यक आगार रखना चाहिए। ऐसा न करने पर व्रत भंग की संभावना रहती है।

**1. अण्णत्थाभोगेण :-** अत्यंत विस्मृति, भूल जाने के कारण कोई भी वस्तु भूलकर मुख में डाली हो परंतु ज्ञान होने पर तत्काल उसको विवेक पूर्वक परठ देवें तो पच्चक्खाण में दोष नहीं लगता। किंतु जानने के बाद भी भक्षण करे तो पच्चक्खाण निश्चय भंग होता है।

**2. पच्छण्णकालेण :-** मेघ, धूल, ग्रहण आदि के कारण या पर्वत की आड़ में सूर्य के ढक जाने से, परछाई के न दिखने के कारण, भ्रमपूर्वक पच्चक्खाण का समय पूर्ण हुआ जानकर कदाचित पोरसी आने के पहले ही पच्चक्खाण पार लेने पर व्रत भंग नहीं होता।

**3. दिसामोहेण :-** दिशा का भ्रम हो जाने से अर्थात् पूर्व दिशा को पश्चिम दिशा जानकर काल समाप्ति से पहले ही भोजन कर ले तो व्रत खंडित नहीं होता।

**4. सहसागारेण :-** अकस्मात् बिना विचारे या अचानक कोई कार्य हो जाय उसे सहसागार कहते हैं। जैसे गाय दुहते समय अचानक दूध के छींटे या स्नान करते समय सहसा उछलकर पानी के छींटे मुँह में पड़ जाना सहसाकार है। ऐसा हो जाने पर पच्चक्खाण भंग नहीं होता।



**5. साहुवयणेणं** :- उगघाडा पोरसी - इस प्रकार के साधु के कथन के आधार पर समय आने से पूर्व ही पोरसी पार ले तो व्रत भंग नहीं होता।

**6. सव्व समाहिवत्तियागारेणं** :- पच्चक्खाण का समय पूरा होने के पूर्व ही तीव्र रोगादि के कारण अस्थिर चित्त तथा आर्तरौद्र ध्यान होने से उस रोग को शांत करने हेतु औषधी आदि ग्रहण करने से व्रत टूटता नहीं।

**7. महत्तरागारेणं** :- विशेष निर्जरा आदि खास कारण से गुरु की आज्ञा पाकर निश्चय किये हुए समय से पहले ही पच्चक्खाण पार लेने से व्रत भंग नहीं होता। जैसे कोई साधु बीमार हो अथवा उस पर या संघ पर कोई संकट आ गया हो, अथवा मंदिर या संघ आदि का कोई खास काम हो जो दूसरे से या दूसरे समय में नहीं हो सकता, इत्यादि महत्वपूर्ण कारणों को लेकर समय पूरा होने से पहले पच्चक्खाण पारा जा सकता है। यह आगार नवकारसी, पोरसी आदि में नहीं बताया गया है।

**8. सागारीआगारेणं** :- भगवान की आज्ञा है कि साधु एकांत स्थान अर्थात् जहाँ कोई गृहस्थ न देखता हो वहाँ भोजन करें। यदि एकासणादिक पच्चक्खाण करके भोजन करने के लिए बैठे हुए साधु के पास कोई गृहस्थ आ जाए तो साधु महाराज उस स्थान से स्थानान्तर होवे तो पच्चक्खाण भंग नहीं होता तथा गृहस्थों के लिए इस बात का उल्लेख है कि वे यदि एकासणादि के लिए आहार करने बैठे हो और सामने पुरुष/स्त्री की नजर ठीक न लगती हो तो वे स्थान बदले तो व्रत भंग नहीं होता है।

**9. आउट्ठणपसारेणं** :- भोजन करते समय सर्प के आने से, अग्नि के प्रकोप से या अंग सुत्र पड जाने से हाथ, पैरों आदि अंगों को फैलाना या सिकोडा जाय तो नियम भंग नहीं होता है।

**10. गुरु अब्भुट्ठाणेणं** :- एकासनादि में भोजन करते समय यदि गुरु महाराज पधारें तो उनके विनय के लिए आसन पर खड़े हो जाने पर भी इस आगार के कारण पच्चक्खाण भंग नहीं होता है।

**11. परिट्ठावणियागारेणं** :- साधु की गोचरी में आहार, मात्रा से अधिक आने से बच गया हो, दूसरे दिन के लिए उसे रखना तो कल्पनीय नहीं है, ऐसी दशा में उसे परठाने (डालने) के सिवाय कोई चारा नहीं तो उस समय गुरु आज्ञा से तपस्वी साधु आहार ग्रहण करे तो नियम भंग नहीं होता है।

**12. लेवालेवेणं** :- भोजन करने के थाल प्रमुखादि भोजन में घी - दूध आदि विगय द्रव्य का अंश लगा हुआ देखकर, हाथादि से साफ कर लेने पर भी जिस बर्तन में चिकनाहट का कुछ अंश रह जाए, उसमें यदि आयंबिलादि व्रतवाला भोजन कर लेवें तो व्रत भंग नहीं होता है।

**13. उक्खितविवेगेणं** :- आयंबिलादि पच्चक्खाण में न खाने योग्य जो विगय द्रव्य है उसका स्पर्श भूल में यदि खाने योग्य वस्तुओं से हो जाये तो उनके खाने में साधु को दोष नहीं।

**14. गिहत्थसंसिद्धेणं** :- आहार या घी तेल आदि से लगी हुई, कड़खी, चम्मच आदि को साफ कर लेने पर भी चिकनाहट या गंध का थोड़ा अंश उसमें लगा रहे। उस चम्मच से कदाचित् आयंबिलादि को खाना परोसा गया हो तो नियम भंग नहीं होता है।

**15. पडुच्चमक्खिएणं** :- भोजन बनाते समय जिन चीजों पर भूल कर घी - तेल आदि की उंगली लग जाय या घी से चुपड़े हुए फूलकों आदि का स्पर्श हो जाए, उन वस्तुओं को आयंबिलादि पच्चक्खाण वाला भोजन कर ले तो व्रत भंग नहीं होता।



### पच्चक्खाण पारणे के छः अंग है

1. **फासियं** :- गुरु के पास या स्वयं विधिपूर्वक पच्चक्खाण लेना।
2. **पालियं** :- (पालित) ग्रहण किये हुए पच्चक्खाण का बार बार उपयोगपूर्वक स्मरण रखकर उसे भलीभांति सुरक्षित रखना भंग होने से बचाना।
3. **सोहियं** (शोभित) :- गुरुजनों व साथियों को अथवा अतिथिजनों को भोजन कराकर स्वयं भोजन करना।
4. **तीरिय** (तीरित) :- लिए हुए पच्चक्खाण का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहकर आहार करना। चौविहार आदि में कुछ समय के पूर्व ही भोजन का त्याग कर देना।
5. **कीट्टियं** (कीर्तित) :- भोजन प्रारंभ करने से पहले लिए हुए पच्चक्खाण का विचार कर उत्कीर्तन पूर्वक कहना कि मैंने अमुख पच्चक्खान अमुख रूप से ग्रहण किया था वह भलीभांति पूर्ण हो गया है।
6. **आराहियं** (आराधित) :- सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार पच्चक्खाण की आराधना करना।

**\* पच्चक्खाण से लाभ** :- आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने प्रत्याख्यान का महत्व बताते हुए कहा है कि प्रत्याख्यान करने से संयम होता है। संयम से आश्रव का निरोध होता है और आश्रव निरोध से तृष्णा का क्षय होता है। वस्तुतः प्रत्याख्यान अमर्यादित जीवन को मर्यादित या अनुशासित बनाता है। जैन परंपरा के अनुसार आश्रव और बंधन का एक कारण अविरति भी कहा गया है। प्रत्याख्यान अविरति का निरोध करता है। प्रत्याख्यान त्याग के संबंध में ली गई प्रतिज्ञा है। जब तक किसी वस्तु का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता, तब तक उस वस्तु संबंधी के कर्म रज आते रहते हैं। जब कोई पापाचरण से दूर होने के लिए केवल उसे नहीं करना, इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसके नहीं करने के लिए आत्म निश्चय भी आवश्यक है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार पापाचरण नहीं करनेवाला व्यक्ति भी जब तक पापाचरण नहीं करने की प्रतिज्ञा नहीं लेता तब तक वह पापाचरण से मुक्त नहीं हो सकता। अतः प्रत्याख्यान पापाचरण से निवृत्त होने के लिए किया जानेवाला दृढ संकल्प है। उसके अभाव में नैतिक जीवन में प्रगति संभव नहीं है।

### छः आवश्यकों का क्रम वैज्ञानिक ढंग से निरूपित किया जाता है।

1. पहला समाधिक आवश्यक जीवन में समभाव की साधना सिखाता है।
2. चतुर्विंशतिस्तव द्वारा वह तीर्थंकर भगवंतों जैसी वीतरागता अपने अंदर विकसित करने की भावना करता है।
3. वंदन के द्वारा वह स्वयं विनय गुण से विभूषित होता है।
4. प्रतिक्रमण के द्वारा समस्त बाह्य एवं वैभाविक परिणतियों से विरत होकर अन्तर्मुखी बनता है।
5. कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर की ममता कम की जाती है तथा आत्मभाव में रमण किया जाता है। और
6. प्रत्याख्यान में भविष्य के लिए विभिन्न प्रकार के त्याग ग्रहण किये जाते हैं।

इस प्रकार साधक षडावश्यक से अपने आध्यात्म जीवन को जगाता हुआ मुक्ति की राह पर कदम बढ़ाता है।

\*\*\*\*\*



## \* जिन दर्शन पूजन विधि \*

आत्मा निमित्तवासी है। शुभ निमित्त और शुभ वातावरण हो तो हमारे विचार शुभ बनते हैं एवं आत्मा में सुसंस्कार पडते हैं। यदि निमित्त और वातावरण अशुभ हो तो जीवन में विषय-विकारों का कचरा बढ़ता जाता है। हम सिनेमा देखते हैं, यदि दृश्य अच्छा हो तो मन पर अच्छा असर पडता है, यदि दृश्य दुःखपूर्ण हो तो हमें भी दुःख का अनुभव होने लगता है, कभी कभी तो आंसू भी निकल जाते हैं। अश्लील दृश्य देखने पर भावों में मलीनता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा पर निमित्तों के अनुरूप असर पडता है। अगर हमें अपने विषय विकारों को दूर करना है, मन को पवित्र एवं निर्मल बनाना है, तो उसके लिए उत्तम निमित्तों की आवश्यकता होगी।

जब हम अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेते हैं, तब उसकी साधना एवं साधन के प्रति हृदय में अनन्य आस्था और श्रद्धा पैदा हो जाती है। उससे हृदय में आगे बढ़ने की सत्प्रेरणा मिलती रहती है। यदि हमें आत्म विशुद्धि करनी है, राग - द्वेष से दूर होना है तो हमारे लिए उन्ही का आलम्बन लेना उपयोगी होगा जिन्होंने पुरुषार्थ द्वारा आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर संपूर्ण कर्मों का क्षय कर लिया है। उनके इस स्वरूप की परिचायक (परिचय करानेवाला) उनकी मूर्ति व आकृति हमें उनकी साधना की स्मृति कराते हुए उस स्वरूप को प्राप्त करने की सशक्त प्रेरणा देती है। कायोत्सर्ग या पद्मासन मुद्रा में स्थिर, शांतरस से भरपूर जिनमुद्रा को देखकर हमें अपने स्वरूप की स्मृति हो जाती है। विषय विराम एवं परम शांति का अनुभव होता है। पाप भीरुता आती है और आत्मा निर्मल बनती है। **प.पू. देवचंद्रजी म.सा.** भगवान महावीर स्वामी के स्तवन में फरमाते हैं कि ...



**स्वामी गुण ओलखी, स्वामी ने जे भजे, दर्शन शुद्धता तेह पामे।  
ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य उल्लास थी, कर्म झीपी वसे मुक्ति धामे॥**

परमात्मा के ज्ञानादि अनंतानंतगुणों को पहचान कर जो भक्त भगवान की भक्ति करते हैं। उनका सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। दर्शन शुद्धि से ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य में उल्लास भाव होने से जीवात्मा अपने शुद्धात्म स्वरूप को पहचान कर, कर्म क्षयकर मुक्तिस्थान में वास करता है।

परमात्मा का दर्शन पूजन संसार के राग द्वेष रुपी विष को उतारने की नागमणी के समान है।

\* परमात्मा के दर्शन से दुःख - दर्द, अशांति, अशांता, रोग आदि टल जाते हैं और सुखशांति - आरोग्य आनंद की प्राप्ति होती है।

\* परमात्मा की भक्ति, आंख व आत्मा की जनरल टॉनिक है।

\* मंदिर व तीर्थों का वातावरण याने वहाँ के वाईब्रेशन सहज सुहावने होते हैं, ऐसे वातावरण में हमेशा पहुँचाने वाला संसार का विर्सजन व पुण्य का सर्जन करता है।

\* विनाशी की शरण में जाने से विनाश होता है परंतु अविनाशी परमात्मा की शरण में जाने से विकास होता है।



## \* देवदर्शन पूजन विधि :-

कोई भी कार्य विधिवत् करने से सफलता मिलती है। देव - दर्शन पूजन भी यदि विधिवत् किया जाय तो आत्मा विशुद्धि होती है शुभ भावना के साथ प्रभु दर्शन के लिए जाते समय हमें पाँच अभिगमों का अवश्य पालन करना चाहिए।

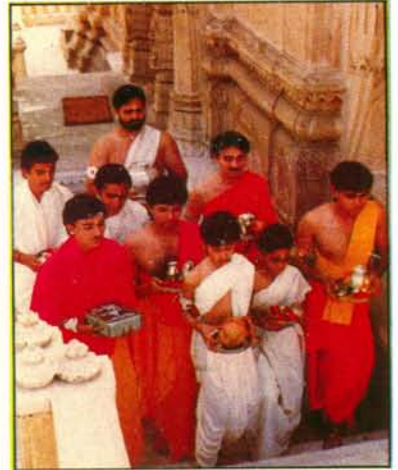


\* पाँच अभिगम :- अभिगम एक प्रकार का विनय है

1. सचित का त्याग :- प्रभु भक्ति में उपयोग में न आये ऐसी खाने - पीने की सचित वस्तुओं का त्याग करना।

2. अचित का अत्याग :- प्रभु भक्ति में उपयोगी वस्तुओं का त्याग नहीं करना।

3. उत्तरासन :- पुरुष को जिन मंदिर में प्रवेश के पूर्व उत्तरासन चाहिए अर्थात् खेस (दुपट्टा) द्वारा अपने शरीर को अलंकृत करना चाहिए। खेस के किनारे सिलाई या तुरपाई की हुई नहीं होनी चाहिए और रस्सी या गुच्छा होना चाहिए। पूजा के खेस द्वारा पसीना पोंछना, नाक साफ करना आदि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए।



यह अभिगम बहनों के लिए नहीं है, दुपट्टे के बदले उन्हें शालीन व मर्यादित वस्त्रों को पहनना चाहिए, मस्तक आदि को समुचित रूप से ढंककर जाना चाहिए।

4. अंजलि :- जैसे ही देवाधिदेव की प्रशान्त मुखाकृति दिखे, वैसे ही दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर नमो जिणाणं कहना चाहिए।

5. प्राणिधान :- अर्थात् मन की एकाग्रता।

## \* जिनालय में सात प्रकार की शुद्धि \*

1. अंग शुद्धि 2. वस्त्र शुद्धि 3. मन शुद्धि 4. भूमि शुद्धि 5. पूजोपकरण शुद्धि 6. द्रव्य शुद्धि 7. विधि शुद्धि

1. अंगशुद्धि :- मानवीय काया मलमूत्र, पसीना, थूक, लास, बलगम और धूल आदि से सदा मलिन होती रहती है। अतः जयणा पूर्वक स्नान विधि से शरीर शुद्धि करने के बाद ही परमात्मा का स्पर्श करना ही अंगशुद्धि है। (यदि शरीर में घावादि हो उसमें सतत मवाद प्रवाहित हो रहा हो तो जिनपूजा नहीं करनी चाहिए।)

2. वस्त्रशुद्धि :- वस्त्र और विचारों का प्रगाढ संबंध है। इसलिए कहा जाता है, मलिन वेश भी मलिनता

उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार मन की शुद्धि में निर्विकार वेश भी कारण बनते हैं। अतः पूजा के वस्त्र शास्त्रों में बताए अनुसार उज्ज्वल और शुद्ध वस्त्र प्रयोग में लाने चाहिए। उपयोग के बाद प्रतिदिन उनकी सफाई आवश्यक है।

**3. मनशुद्धि :-** परमात्मा की पूजा करते हुए मन को शुद्ध रखना चाहिए। इसके लिए मन को मलिन करनेवाले कषायों के परिणामों से, दुर्विचारों से दूर रहना चाहिए। सभी सामग्रीयाँ शुद्ध रहे किंतु मन में शुद्धता के भाव न हो तो सब कुछ व्यर्थ हो जायेगा।

**4. भूमिशुद्धि :-** जिन मंदिर जाते समय मार्ग में एवं जिन मंदिर में प्रवेश के पश्चात् तथा चैत्यवन्दन आदि विधि करने के पूर्व जिन मंदिर में रहे कचरे आदि को दूर करना भूमिशुद्धि है।

**5. उपकरण शुद्धि :-** परमात्मा की पूजा में प्रयुक्त किये जानेवाले सारे उपकरण का निर्माण उच्चश्रेणी की धातुओं से करना जैसे स्वर्ण, रजत, तांबा आदि। उसी प्रकार इन्हें उपयोग में लेने से पूर्व अच्छी तरह से साफ कर लेना चाहिए। परमात्मा के अंगलूछने भी कोमल, उत्तम वस्त्रों से बने होने चाहिए।

**6. द्रव्यशुद्धि :-** परमात्मा की पूजा में उपयोग करने योग्य सामग्री के क्रम में तथा अभिषेक आदि उत्सव में न्यायोपार्जित धन का उपयोग करना चाहिए।

**7. विधिशुद्धि :-** परमात्मा की पूजा तथा चैत्यवन्दन आदि की शास्त्रोक्त विधिपूर्वक शुद्धभावों के त्रिकरण योग से करनी चाहिए। प्रमाद, अविधि, आशातना आदि दोषों को कही भी प्रवेश करने नहीं देने चाहिए।

### \* दस त्रिक का चार्ट \*

<b>1. निसीहि त्रिक</b>	<b>2. प्रदक्षिणा त्रिक</b>	<b>3. प्रणाम त्रिक</b>	<b>4. पूजा त्रिक</b>
* पहली निसीहि	* पहली प्रदक्षिणा	* अंजलिबद्ध प्रणाम	* अंग पूजा
* दूसरी निसीहि	* दूसरी प्रदक्षिणा	* अर्धावनत प्रणाम	* अग्र पूजा
* तीसरी निसीहि	* तीसरी प्रदक्षिणा	* पंचांग प्रणिपात प्रणाम	* भाव पूजा
<b>5. अवस्था त्रिक</b>	<b>6. दिशात्याग त्रिक</b>	<b>7. प्रमार्जना त्रिक</b>	<b>8. आलंबन त्रिक</b>
* पिंडस्थ अवस्था	* दायी दिशा त्याग	* भूमि प्रमार्जन	* जिन बिंब आलंबन
* पदस्थ अवस्था	* बायी दिशा त्याग	* हाथ - पाँव प्रमार्जन	* सूत्रों का आलंबन
* रुपातीत अवस्था	* पीछे की दिशा त्याग	* मस्तक प्रमार्जन	* सूत्रार्थ आलंबन
<b>9. मुद्रा त्रिक</b>	<b>10. प्रणिधान त्रिक</b>		
* योग मुद्रा	* मन प्रणिधान		





- \* मुक्ता शक्ति मुद्रा      \* वचन प्रणिधान
- \* जिन मुद्रा              \* काया प्रणिधान

### \* दस त्रिक का स्वरूप :-

जिन मंदिर में प्रवेश करने से बाहर निकलते तक दस बातों का परिपालन करना चाहिए। इन दस बातों के तीन - तीन उप समूह भी हैं। त्रिक का मतलब तीन। हम इन दस त्रिक तथा उनके कुल उपभेदों का क्रमशः विवेचन करेंगे।

#### 1. निसीहि त्रिक :-

निसीहि :- निषेध करना, रोकना

पहली निसीहि



अग्र द्वार पर

दूसरी निसीहि



गर्भ द्वार पर

तीसरी निसीहि



चैत्यवंदन प्रारंभ करने से पहले



1. पहली निसीहि :- संसार के समस्त पाप कार्यों के त्यागार्थ प्रथम निसीहि जिनालय के प्रवेश द्वार पर बोली जाती है।

2. दूसरी निसीहि :- जिनालय का हिसाब देखना, पूजारी आदि को कार्य निर्देश करना, पाटे आदि उचित स्थान पर रखना, साफ सफाई, रख - रखाव इत्यादि सभी कार्यों के प्रति श्रावक को सावधानी रखनी चाहिए। यह सब करने के बाद इन कार्यों का भी त्याग करने के लिए गर्भ द्वार पर पहुँचकर दूसरी निसीहि बोलनी चाहिए।

3. तीसरी निसीहि :- अष्ट प्रकारी जिनपूजा पूर्ण करने के बाद चैत्यवंदन प्रारंभ करने के पूर्व द्रव्यपूजा संबंधी कार्यों आदि के भी विचार का

त्याग हेतु यह तृतीय निसीहि कहनी चाहिए।

#### 2. प्रदक्षिणा त्रिक :-

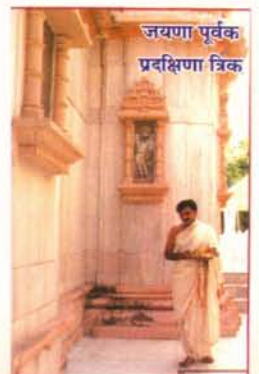
प्रः उत्कृष्ट भावपूर्वक

दक्षिणा :- परमात्मा की दांयी ओर शुरु की जाती है।

#### \* तीन प्रदक्षिणा के चार हेतु :-

1. अनादि काल से चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करती आत्मा के भव भ्रमण को टालने परमात्मा के चारों ओर प्रदक्षिणा दी जाती है।

2. दर्शन, ज्ञान, चारित्र रुपी रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए भी परमात्मा की तीन प्रदक्षिणा दी जाती है।



3. मूलनायकजी के तीनों ओर दीवार में स्थापित मंगल जिन बिम्बों को देखकर हम समवसरण में प्रदक्षिणा दे रहे हैं ऐसी भावना करनी चाहिए।

4. परमात्मा का गूंजन करते करते परमात्मा स्वरूप की प्राप्ति कर सकें।

### 3. प्रणाम त्रिक :-

1. अंजलि बद्ध प्रणाम :- परमात्मा का दर्शन करते ही दोनों हाथ जोड़कर कपाल पे अंजली लगाकर मस्तक झुकाते हुए “नमोजिणाणं” कहकर यह प्रणाम किया जाता है।



2. अर्धावनत प्रणाम :- परमात्मा के गर्भद्वार के पास पहुँचकर कमर तक शरीर झुकाकर दोनों हाथ जोड़कर यह प्रणाम किया जाता है।

3. पंचांग प्रणिपात प्रणाम :- शरीर के पाँच अंगों को जमीन पर स्पर्श कराते हुए किये जानेवाले प्रणाम

को पंचांग प्रणिपात कहते हैं। इसका रुढ नाम खमासमणा है। परमात्मा को किये जानेवाले प्रणाम में प्रचंड शक्ति छिपी है। अरिहंत परमात्मा को किया गया एक ही नमस्कार हजारों लाखों भवों के पापों से मुक्त करनेवाला है। इसलिए कहा है - इक्कोवि नमुक्कारो, जिणवर वसहस्स वद्धमाणस्स, संसार सागराओ तारेइ नरं व नारी वा। उत्कृष्ट भाव से किया गया एक नमस्कार नर अथवा नारी को तिरा देता है। यह प्रणाम चैत्यवंदन के समय किया जाता है।



अर्धावनत प्रणाम



### 4. पूजा त्रिक :-

#### अष्टप्रकारी पूजा के स्थान

#### तीन पूजा



जिन बिंब पर



1. जल पूजा
2. चंदन पूजा
3. पुष्प पूजा

#### दो पूजा



जिन बिंब के आगे  
गर्भगृह के बाहर



4. धूप पूजा
5. दीपक पूजा

#### तीन पूजा



रंग मंडप में बाजोठ पर



6. अक्षत पूजा
7. नैवेद्य पूजा
8. फल पूजा





**1. जल पूजा :-** हे निर्मल देवाधिदेव ! आपके तो द्रव्य मैल और भाव मैल दोनों ही धुल गये है। आपको तो अभिषेक कि कोई आवश्यकता नहीं है। किंतु मेरे नाथ ! जल पूजा के द्वारा कर्म मल को धोकर निर्मल बनना चाहता हूँ।

**2. चंदन पूजा :-** हे प्रभु ! मोह का नाश करके आपने अपनी आत्मा में शीतलता प्रसारित की है किंतु मेरे नाथ मेरी आत्मा तो विषय कषायों की अग्नि ज्वाला में जल रही है। अतः



अनामिका अंगुली से आपकी चंदन पूजा करते हुए कामना करता हूँ। प्रभु ! मेरी अंतरात्मा में विषयकषाय विनष्ट हो जाए और मेरी आत्मा में चंदन जैसी समतारस की शीतलता फैल जाए।



**प्रभु के नौ अंगों के नाम इस प्रकार है।**

1. अंगूठा 2. घुटना 3. कलाई 4. कंधा 5. शिखा (सिर)
6. ललाट 7. कंठ 8. हृदय 9. नाभी।

इनकी पूजा करते समय क्या भाव हमारे मन में उत्पन्न होने चाहिए, उनका वर्णन निम्नलिखित है।

**1. अंगूठा (चरण पूजा) :-**

**जलभरी संपुट पत्रमां, युगलिक नर पूजंत।**

**ऋषभ चरण अंगूठडे, दायक भवजल अंत॥**

हे सर्वज्ञदेव ! भगवान आदिनाथ के समय युगलिकों ने जो अपनी अगाध श्रद्धावश कमल का पात्र बनाकर उसमें जल भर कर भगवान के अंगूठे पर अभिषेक किया था । वे अज्ञानी जन भी पवित्र भावना व श्रद्धा के कारण इस चरण की पूजा कर परंपरा में इस संसार सागर से मुक्त हो गये थे। इसलिए हे प्रभु ! यह चरण संसार सागर से पार करानेवाला है। यह मानकर मैं आपके चरण की पूजा करता हूँ। चरण की पूजा करते समय विनयपूर्वक प्रभु के चरणों में समर्पण भाव रखते हुए भावना भावे कि मेरी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में आपकी अचिन्त्य शक्ति का विद्युत प्रवाह बहता रहे।

**2. घुटना :-**

**जानु बले काउस्सगग रह्या, विचर्या देश विदेश।**

**खडा - खडा केवल लहयुं, पूजो जानु नरेश॥**



परमात्मा के घुटनों पर पूजा करते वक्त विचार करना चाहिए कि आप इन्हीं घुटनों के द्वारा पैदल विहार करते हुए देश - विदेशक में विचर कर अनादि काल में इस भव अटवी में भटकते हुए भव्य प्राणियों को द्वादशांगी वाणी द्वारा सच्चा मार्ग बतलाकर शाश्वत् सुख प्रदान किया। ये वे घुटने हैं, जिनके बल पर केवलज्ञान प्राप्त न होने तक आप काउस्सग ध्यान में खड़े रहे। आपकी जानु की पूजा करने से मुझे भी ऐसा बल प्राप्त होवे कि जब तक मुझे केवलज्ञान की प्राप्ति न होवे तब तक खड़े - खड़े ध्यान में रहूँ।

### 3. कलाई :-

**लोकांतिक वचने करी, वरस्या वरसीदान।**

**कर कांडे प्रभु पूजना, पूजो भवि बहुमान।।**

परमात्मा की कलाईयों पर पूजा करते वक्त चिंतन करना चाहिए। हे दानवीर प्रभु ! लोकांतिक देवों द्वारा प्रार्थना करने पर आपने तुरंत ही राजसी वैभव को त्याग कर दीक्षा लेने का निश्चय कर तीन अरब, अट्ठासी लाख अस्सी हजार सोना मुहरों का दान दिया है। ये वे सिद्ध हस्त हैं, जिनके द्वारा आपने सैकड़ों मुमुक्षुओं को रजोहरण देकर धर्मतीर्थ की स्थापना की है।

हे नाथ ! आपकी कलाईयों की पूजा करते हुए ऐसी प्रार्थना करता हूँ कि मुझे भी शीघ्र ही गुरु भगवंतों का सान्निध्य मिले और छः काय जीवों की रक्षा करते हुए आत्म कल्याण करूँ।

### 4. कंधा :-

**मानगयुं दोय अंश थी, देखी वीर्य अनन्त।**

**भुजाबले भवजल तर्या, पूजो खंध महंत।।**

अहंकार का एडस् है :- कंधा, जब इंसान अभिमान से भर जाता है, तब उसके कंधे सतत पीछे होने लगते हैं। हे निराभिमानी प्रभु ! आपमें अचिंत्य शक्ति व सामर्थ्य होने पर भी अहंकार को प्रवेश नहीं दिया है। माता - पिता मोहवश होकर आपको विद्याध्ययन हेतु पंडित के पास ले गये। तीन ज्ञान से युक्त होने पर भी आप शांत रहे। आपकी स्कंध पूजा करते हुए प्रार्थना करता हूँ कि मेरा भी अहंकार नष्ट हो और विनय गुण की प्राप्ति करूँ। आत्म कल्याण की जिम्मेदारी का मेरे कंधे पर सुचारु रूप से वहन करूँ।

### 5. सिरशिखा (मस्तक) :-

प्रत्येक तीर्थंकर की आत्मा मृत्यु के समय सिर से निकलती है। सिर के जिस भाग से आत्मा निकलती है वह भाग ही शिखा कहलाता है जो कि कुछ उठा होता है तथा अत्यधिक पवित्र माना गया है इसलिए सिर पूजा करते समय शिखा की पूजा करने का विधान है। इसकी पूजा करते समय नीचे लिखे भाव रखें।

**सिद्धशिला गुण ऊजली, लोकांते भगवंत।**

**वसियां तिणे कारण भवि, शिरशिखा पूजंत।।**

हे सिद्ध परमात्मा ! इस संसार के अग्रभाग पर सिद्धशिला है जो कि उज्ज्वल एवं स्फटिक जैसी निर्मल है। वहाँ पर प्रभु की आत्मा सिर के मध्य भाग से निकलकर शुद्ध, बुद्ध मुक्त अवस्था में पहुँचती है। इसलिए



यह शिरशिखा अत्यंत पवित्र है। प्रभुवर पूजा करते समय में भी यही कामना करता हूँ कि मैं भी समस्त कर्मों का क्षय करने निरंजन - निराकार स्वरूप सिद्ध अवस्था प्राप्त करके सिद्धशिला पर पहुँच जाऊँ।

#### 6. ललाट :-

**तीर्थकर पद पुण्य थी, त्रिभुवन जन सेवंत।**

**त्रिभुवन तिलक समा प्रभु, भाल तिलक जयवंत॥**

हे तीर्थपते ! आपने अपने पुरुषार्थ द्वारा अनेक परिषहों को सहन कर कर्म मल को दूर कर दिया और तीर्थकर नाम कर्म निकाचित किया। इसलिए तीनों भुवनों के लोग आपकी सेवा करते हैं। आप त्रिभुवन के तिलक के समान हैं। अतएव मैं आपके तिलक के स्थान ललाट की भक्तिपूर्वक पूजा करता हुआ चाहता हूँ कि मेरे सर्व विकार दूर हो और मैं परमोच्च अवस्था को प्राप्त करूँ।

#### 7. कंठ :-

**सोलह प्रहर प्रभु देशना, कंठे विवर वर्तुल।**

**मुधर ध्वनि सुरनर सुने, तिने गले तिलक अमूल॥**

हे प्रभु ! आपने मोक्ष जाने से पहले सोलह प्रहर तक अपने पवित्र कंठ से धर्म देशना देकर जगत का उद्धार किया। आज भी आपकी कंठ ध्वनि इस जगत के लिए परम आधार है। अतएव मैं उसकी परम उल्लास से पूजा करता हुआ प्रेरणा चाहता हूँ कि मेरा कंठ निरंतर आपका गुणगान करता रहे। मैं आपकी मंगलमयी वाणी का सच्चा अनुगामी बनूँ और आपके आदर्शों का हित, मत, पथ्य एवं वाणी द्वारा सत्य प्रचार करूँ।

#### 8. हृदय :-

**हृदय कमल उपशम बले, बाल्या राग ने रोष।**

**हिमदहे वन खंड ने हृदय तिलक संतोष ॥**

हे करुणासिन्धु ! जिस प्रकार पाला (अत्याधिक ठंडा बर्फ) गिरने से सारी वनस्पति का नाश हो जाता है। उसी प्रकार प्रभु के हृदय में सदैव बसने वाला उपशम रस रुपी क्षमा, धैर्य, आदि जो अत्यधिक शीतल है उससे रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ठंडे हो जाते हैं। प्रभुवर आपकी "सवि जीव करुं शासन रसी" की भावना आपके अनुपम उदार हृदय की परिचायिका (परिचय करानेवाली) है। आपके जिस हृदय में असीम क्षमा, असाधारण धैर्य, अपार सहनशीलता एवं अलौकिक समता का निवास था उसकी पूजा करके मैं धन्य हूँ। मेरा वही दिन सफल होगा जिस दिन मेरे हृदय में इन गुणों का वास होगा। मेरी पूजा करने का सार इसी में है हृदय में मैत्री, प्रमोद, माध्यस्थ एवं करुणा भावना का विकास हो।

#### 9. नाभि :-

**रत्नत्रयीगुण उजली, सकल सुगुण विश्राम।**

**नाभि कमल नी पूजना, करता अविचल धाम।**

हे गुणागार ! आपके नाभि कमल में सम्यग् ज्ञान सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र रुपी तीन उज्ज्वल गुण



विद्यमान है जो समस्त गुणों का विश्राम है। इन तीनों को पूर्ण रूप से वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ। इन गुणों की संग्राहक नाभि कमल की अर्चना कर मैं विनती करता हूँ कि उस गुण राशि के अंकुर मुझ में भी अंकुरित हो।

इस प्रकार नौ अंगों की पूजा में निहित अमूल्य भावों को आत्मसात कर हमें जिनेन्द्र भगवान की पूजा तन - मन - लगन के साथ करनी चाहिए।

**3. पुष्पपूजा :-** हे प्रभु ! आपके चरणों में पुष्प समर्पित करते हुए मैं यह कामना करता हूँ कि जिस तरह यह



पुष्प पूर्ण विकसित, सुगंधित और कोमल है, जैसे वे दिखाई देते हैं, वैसे ही उनका स्वरूप है। उसमें किसी प्रकार की माया नहीं है परंतु मेरे अंतर भावों की दशा में इतनी माया है कि भीतर में चिंतन कुछ करता हूँ, बोलता कुछ हूँ और करता कुछ हूँ अर्थात् मेरी आत्मा में अभी भी सरलता नहीं है, अतः प्रभो ! पुष्प पूजा के द्वारा निज स्वरूप में ऐसी स्थिरता को प्राप्त करुं जो अंतर के इस माया रूपी कालुष्य के होने वाली हो।

**4. धूप पूजा :-** हे प्रभु ! जैसे ये धूप की घटाएँ उर्ध्वगमन कर रही है, वैसे ही उर्ध्वगति जो आत्मा का वास्तविक स्वभाव है वह मुझे शीघ्र प्राप्त हो और मैं भी आपकी तरह मिथ्यात्वरूपी दुर्गंध दूर करके शुद्धात्म स्वरूप प्रकट करके सिद्धि प्राप्त करुं यही कामना धूप खेते हुए करता हूँ।

धूप पूजा गंभारे में नहीं, रंग मंडप में प्रभु की बायी ओर खड़े होकर की जाती है।



**5. दीपक पूजा :-** हे ज्ञान दीपक ! दीपक उजाले का प्रतीक है। आपने तो ऐसा भावदीप जलाया है जिसके प्रकाश में आप लोकालोक को देख सकते हैं। हे

प्रभु ! आपके सामने द्रव्य का प्रकाश लेकर मैं यही कामना करता हूँ कि मेरे अंतर में केवलज्ञान रूपी भाव दीपक प्रकट हो और अज्ञान का अंधकार दूर हो जाए।



आपके अंतर में ज्ञानरूपी दीपक की लौ है उससे मेरे अंतर के ज्ञानरूपी दीपक को प्रज्वलित करने आया हूँ। दीपक पूजा करते समय दीप को थाली में रखकर उसे दोनों हाथों से पकड़कर प्रभु की दायी ओर खड़े रहना चाहिए। अधिक समय तक रखे जाने वाले दीपक को चिमनी आदि से ढंकना चाहिए।

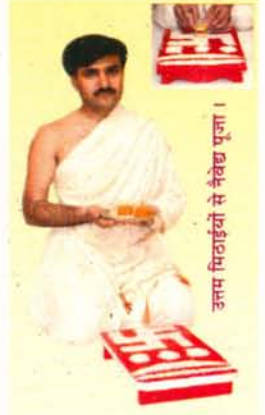
**6. अक्षत पूजा :-** हे परमतारक ! शुद्ध अखंड अक्षत का स्वस्तिक आलेखित करके चतुर्गतिमय संसार का सम्यगदर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपी रत्नत्रयी की आराधना से अंत करके अक्षय सिद्धशिला का परमधाम मुझे प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना आपसे करता हूँ। ये अक्षत जिस प्रकार बौने पर पुनः उगते नहीं हैं, उसी प्रकार मैं इस





संसार में जन्म पाना नहीं चाहता, याने मुझे अजन्मा बनना है। चावल से छिलका निकलने पर उसका अखंड उज्ज्वल स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा पर से कर्मों का छिलका दूर होकर आत्मा का शुद्ध अखण्ड उज्ज्वल स्वरूप प्रकट हो। अतः प्रभो ! अक्षत पूजा के द्वारा आत्मा के अक्षय खजाने को प्राप्त करने के लिए आपके चरणों में आया हूँ।

**7. नैवेद्य पूजा :-** हे अणाहारी प्रभु ! जन्म मरण के जंजाल में फंसे मुझे परभव में जाते हुए विग्रह गति में अनंतबार अणाहारी रहने का योग कर्म सत्ता के कारण बना, परंतु यह योगपूर्ण होते ही सीधी जन्म की सजा आरंभ हो जाती है। अनंतकाल में मेरी आत्मा ने अनगिनत जड द्रव्यों का भोग किया, फिर भी मेरी इच्छा रुपी भूख शांत नहीं हुई। जैसे खाई कभी भरी नहीं जा सकती, वैसे ही भोगों से कभी तृष्णा शांत नहीं होती। सागर के समान अथाह इच्छाओं की पूर्ति में मैं संसार में भटकता रहा पर अब, नैवेद्य पूजा के माध्यम यह अभिलाषा करता हूँ कि मेरी आहार संज्ञा नष्ट हो एवं मुझे अणाहारी पद प्राप्त हो।



**8. फल पूजा :-** हे प्रभु ! वृक्ष के बीज की अंतिम परिणति फल होती है, वैसे ही आपकी फलों द्वारा पूजा करते हुए मैं यही कामना करता हूँ कि इस फल पूजा के प्रभाव से मुझे अंतिम याने सम्यग् दर्शन का बीजारोपण के बाद मोक्षफल की प्राप्ति हो। जग में जिसको भी मैंने अपना माना वह मुझे छोड़कर चला गया, क्योंकि संयोग का वियोग निश्चित है। फिर इष्ट के वियोग में मैं अशांत आकुलित होता रहा जो पुनः दुःख वृद्धि का ही कारण बना। जब कि मैं मूल स्वभाव से आनंद स्वरूप, शांत स्वभावी चेतन हूँ। मुक्ति ही मेरी सहज अवस्था है। अतः जिस मोह के बंधन के कारण मैं दुःखी हूँ, वह मोह ही दूर जाए और वही फल पूजा का सार्थक परिणाम होगा।

परमात्मा की पूजा परमगुणवान तीर्थंकर परमात्मा के प्रति विशिष्ट बहुमान भक्ति और अनुराग आदि का कारण बनती हैं और इन्हीं के कारण जीवन में देशविरति, सर्वविरति आदि जिनाज्ञा को स्वीकार और पालन सहज सुलभ होता है। परंपरा में अहिंसा आदि सर्वगुणों की सर्वोच्च परिपूर्णता रूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है। प्रभु पूजा के तात्कालिक फल यह है कि उन भगवान के गुणों के अत्यधिक प्रशस्त भावों के कारण हमारे जीवन में रहे हुए अमंगल पापों का नाश होता है एवं मंगल पुण्य का सर्जन होकर जीवन में ऐसी समाधि व प्रसन्नता आती है कि हम प्रभु आज्ञा का पालन व्रत नियम आदि सुचारु रूप से करके आत्म विकास को साध सकें।

निमित्तों की अत्यंत प्रबलता का अत्यंत प्रभाव जहां पर रहा हुआ है ऐसे गृहस्थ जीवन के आत्मोत्थान के लिए श्रेष्ठतम निमित्त रूप परमात्मा की विधियुक्त पूजा महाकल्याण करनेवाली है।



## 5. अवस्था चिंतन त्रिक :-

- |                                 |                           |
|---------------------------------|---------------------------|
| 1. पिंडस्थ अवस्था :- इसके 3 भेद | 1. जन्म 2. राज्य 3. श्रमण |
| 2. पदस्थ अवस्था :-              | 1. केवलज्ञान              |
| 3. रूपातीत                      | 1. सिद्धावस्था            |

अवस्था यानी जीवन की घटनाएँ, अष्टप्रकारी पूजा पूर्ण करने के बाद भावपूजा शुरु करने से पूर्व तीर्थंकर के जन्म से लेकर निर्वाण तक की कुल पाँच अवस्थाओं का चिंतन इस त्रिक के द्वारा किया जाता है।

### 1. पिंडस्थ अवस्था :-

**1. जन्मावस्था :-** जन्म से पूर्व तीर्थंकर की माता का चौदह महास्वप्नों का देखना, सौधर्मेन्द्र का



आसान कंपायमान होना, शक्रस्तव (नमुत्थुणं) से प्रभु की स्तुति करना, जन्म होते ही महासूर्य का प्रकाश की भांति सर्वत्र सुख का प्रकाश होना, जन्म समय जानकर 56 दिक्कुमारिकाओं का जन्मोत्सव मनाने हर्ष सहित दौड़ आना, सौधर्मेन्द्र का पंचरूप करके मेरु



शिखर पर 64 इन्द्रों सहित क्षीरोदधि के नीर द्वारा 1 लाख 60 हजार कलशों द्वारा जन्मोत्सव मनाना, अभिषेक के बाद कुसुमांजलि से पूजा करना देव दुंदुभि नाद करना, पुनः प्रभु की माता की गोद में स्थापित करते हुए कहना हे रत्नकुक्षी माता ! यह पुत्र आपका है परंतु स्वामी हमारा है, हमारा आधार है। इस तरह जन्मावस्था का चिंतन।

**2. राज्यावस्था :-** हे राज राजेश्वर प्रभु ! आपने राजकुल में जन्म पाया था, इस भव में आप विशाल

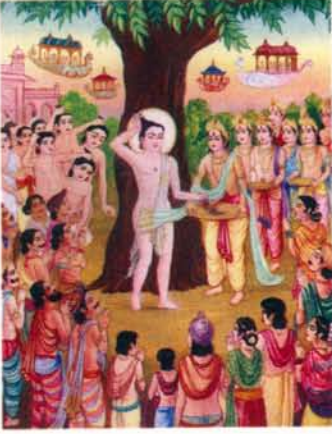


सत्ता और समृद्धि के स्वामी थे। बाल्यकाल में अनेक राजकुमार आपके मित्र बने सदा सेवक भाव से रहते थे। इन्द्रियजन्य सुखों की पूर्ण अनुकूलता होने पर भी आप इनसे निर्लिप्त रहें। विशाल राजलक्ष्मी की विद्यमानता में भी आपको भोगी बनने की अपेक्षा योगी बनना प्रिय लगा। विवाह बंधन और राज्यतिलक धारण भी आपके कर्म की कालिमा को दूर करने का कारण बना। युवावस्था में ऐसे उत्कृष्ट वैराग्य भाव को धारणवाले हे प्रभु ! आपके चरण में वंदन ! इस प्रकार का

चिंतन करना चाहिए।

**3.. श्रमणावस्था :-** राज्यावस्था के चिंतन के बाद प्रभु की श्रमणावस्था का चिंतन इस प्रकार करना चाहिए। हे मुनिश्वर ! आपके दीक्षा के अवसर को जानकर नव लोकांतिक देव जय - जय नंदा, जय - जय भद्रा, आप जय पाओ कहते हुए आपकी सेवा में, उपस्थित होकर कहते हैं, हे स्वामी आप बोध पाओ, आप





संयम धर्म को स्वीकारों और कर्मक्षय कर केवलज्ञान पाकर जिनशासन की स्थापना करो। हे प्रभु ! वर्षीदान देकर जगत का द्रव्य दारिद्र्य दूर करके जैसे ही आप संयम के मार्ग पर बढ़ते हैं, तब इंद्रादिक देव दीक्षा कल्याणक के लिए दौड़ आते हैं। और विशाल पालखी की रचना करके स्वयंकंठों पर उठाते हैं। हे प्रभु ! आप सर्व अलंकारों का त्याग कर पंचमुष्टि लोच करके, सर्वविरति धर्म को धारण करते हैं। तब " नमो सिद्धाणं " पद का उच्चारण करते ही, हे तीन ज्ञान के स्वामी, आप चौथे मन पर्यव ज्ञान के स्वामी बन जाते हैं। तथा श्रमण जीवन स्वीकार करके घोर उपसर्गों व परिषर्गों को सहन करके अंत में स्वस्वरूप रमणता पूर्वक वीतरागी दशा की पूर्णता होते ही केवलज्ञान - दर्शन प्राप्त करते हैं।

**2. पदस्थ अवस्था :-** समवसरण में विराजमान अष्ट प्रतिहार्यों से युक्त परमात्मा को देखकर प्रभु की पदस्थ अवस्था का चिंतन इस प्रकार करना चाहिए।

हे परम तारक ! आपको केवलज्ञान प्राप्त होते ही इंद्रादि करोड़ों देव सहित दौड़े - दौड़े चले आते हैं। रजत, सुवर्ण, व मणिरत्नों से युक्त तीन गढ़ वाले समवसरण की रचना करते हैं। मध्य में अशोकवृक्ष की स्थापना करते हैं। चारों ओर तीन - तीन छत्र होते हैं। देव दुंदुभी नाद करते हैं। पुष्प वृष्टि जंघा प्रमाण करते हैं , चारों दिशाओं में सिंहासन की स्थापना करते हैं। नव निर्मित सुवर्णकमल पर चलते हुए आप समवसरण में पधारते हैं। वहाँ पूर्वदिशा में विराजते हैं और शेष दिशा से आपके अतिशय से ही देव आपके सदृश शेष तीन बिंबों (प्रतिमा) की स्थापना करते हैं। आप मालकोष राग में देशना देते हैं और देवताओं के द्वारा बांसुरियों से पार्श्व संगीत बजाया जाता है।



बीज बुद्धि के स्वामी माने जानेवाले गणधर भगवंतों की आत्माएँ इस देशना से प्रतिबोध पाकर प्रवज्या ग्रहण करते हैं। और वे गणधर त्रिपदी प्राप्त करके द्वादशांगी की रचना करते हैं। इन्द्र महाराजा हाथ में श्रेष्ठतम सुगन्धित द्रव्य का थाल लेकर खड़े होते हैं और तीर्थंकर अपनी मुट्ठी भरकर वासक्षेप लेकर गणधरों के मस्तक पर वासक्षेप कर चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं।



**3. रुपातीत अवस्था :-** प्रभु की ध्यान मुद्रा कायोत्सर्ग मुद्रा को देखकर रुपातीतवस्था का चिंतन इस तरह करना चाहिए कि हे परमात्मा ! स्वभाव में रमण करते हुए, जगत पर परम उपकार करते हुए जब आपके आयुष्य कर्म क्षीण होने लगते हैं, तब आप शैलेषीकरण कर सभी कर्मों को समाप्त कर शाश्वत सुखप्रदाता





सिद्धिगति को प्राप्त करके निरंजन रूपातीत, निराकार स्वरूप को प्राप्त करते हैं। और आदि अनंत काल पर्यन्त अक्षय सुखों में लीन हो जाते हैं।

**6. दिशात्याग त्रिक :-** चैत्यवंदन प्रारंभ करने के पूर्व जिस दिशा में देवाधिदेव विराजमान है, उसके अतिरिक्त अन्य दिशाओं में देखने की क्रिया बंद करने को दिशात्याग नामक त्रिक कहते हैं। तीनों दिशाओं में देखने का त्याग करके मात्र प्रभु की दिशा में प्रभु को ही देखने से चित्त की अस्थिरता समाप्त हो जाती है। अनुचित विचार भी नहीं आते जिसमें प्रभु भक्ति में एकाग्रता - तल्लीनता बढ़ती है।

**7. प्रमार्जना त्रिक :-** 1. भूमि प्रमार्जन 2. हाथ पाव प्रमार्जन 3. मस्तक प्रमार्जन !  
वैसे चैत्यवंदन प्रारंभ करने से पूर्व दुपट्टे के किनारों से भूमि को तीन बार पूंजना यही प्रमार्जन त्रिक है। प्र - उपयोग पूर्वक । मार्जना - पूंजना अर्थात् साफ करना। इस त्रिक के पालन हेतु दुपट्टे के किनारे सिले हुए नहीं होना चाहिए। जिससे लम्बे लटकते खुले धागों के कोमल समूहों से जयणा का पालन अच्छी तरह हो सकेगा।

**8. आलंबन त्रिक :-** 1. मन को सूत्रार्थ का आलंबन 2. वचन को सूत्रोच्चार का आलंबन 3. काया को जिनबिंब का आलंबन। चैत्यवंदनादि करते समय मन - वचन - काया के तूफानी घोड़े उन्मार्ग पर न चले जाएँ, इस हेतु तीन योगों के घोड़ों को तीन - तीन आलंबनों के स्तंभ के साथ बांध देना आलंबन त्रिक कहलाता है।



**9. मुद्रात्रिक :-** 1. योग मुद्रा 2. जिन मुद्रा 3. मुक्ताशक्ति मुद्रा

मुद्रा - अभिनय (Postures), आकार धारा जैन दर्शन में चैत्यवंदन प्रतिक्रमण आदि विधि में विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का विधान किया गया है। कारण मन और मुद्रा का प्रगाढ़ संबंध है। अप्रशस्त मुद्रा - अप्रशस्त मन। प्रशस्तमुद्रा - प्रशस्त मन। चैत्यवंदनादि विधि में जिनमुद्राओं के पालन करने की बात कही गई है, जिसमें ऐसी शक्ति है, कि वे मन के अप्रशस्त भावों को दूर भगाकर प्रशस्त भावों को पैदा करती है। जैसे मन में अहंकार जगा हो तब किसी पूज्य की प्रतिकृति के सामने दो हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर खड़े होने से अहंकार, पद्मासन मुद्रा में बैठने से वासना एवं कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहने से क्रोध शांत हो जाते हैं।



**1. योग मुद्रा :-** दो हाथ जोड़, हाथ की कोहनी पेट पर रखें, जुड़े हुए हाथों की उंगलियाँ एक दूसरे में क्रमशः, गुंथी हुई हो और हथेली का आकार अविकसित कमल की तरह हो यह मुद्रा योग मुद्रा कहलाती है। प्रभु की स्तुति इरियावहियं, चैत्यवंदन, णमुत्थुणं, स्तवन आदि सूत्र योगमुद्रा में बोले जाते हैं।

**2. जिन मुद्रा :-** जिनमुद्रा अर्थात् कायोत्सर्ग मुद्रा। सीधे खड़े रहकर दोनों



पैरों के बीच आगे की ओर चार अंगुल जितना अंतर रखना, पीछे की ओर चार अंगुल से कुछ कम करीब तीन अंगुल अंतर रखना तथा दोनों हाथ सीधे लटकते, पंजे जांघ की ओर, दृष्टि नासिका के अग्रभाग या जिनबिंब पर स्थापित करना यह जिनमुद्रा कहलाती है। नवकार या लोगस्स के काउसग्ग में जिनमुद्रा की जाती है। इस तरह की जिन मुद्रा में **Centre Of Gravity** सही बनने से काया की स्थिरता लम्बे समय तक बिना श्रम से स्थिर रह सकती है। और शरीर शिथिल अवस्था में रह सकता है। काया की स्थिरता मन की स्थिरता का कारण बनती है।



**3. मुक्ताशक्ति मुद्रा :-** दोनों हाथों को जोड़े, दसों उंगलियों को एक दूसरे के सामने



रखें, दोनों हथेलियों का मध्य भाग खोखला रहे और बाहर से हाथ उपर उठा हुआ मोती के सीप के आकार का दिखाई दें। इस प्रकार की मुद्रा मुक्ताशक्ति मुद्रा कहलाती है। जावंति चेईआइं, जावंतकेविसाहू, जयवीयराय (आभवमखंडा तक) ये सूत्र इसी मुद्रा में बोले जाते हैं। सूत्र बोलते समय दोनों हाथ ललाट पर लगाना चाहिए।

**10. प्रणिधान त्रिक :-** आराधना में मन, वचन, काया के योगों को लयलीन तन्मय, तदाकार बनाना ही प्रणिधान त्रिक कहलाता है।

**1. मन का प्रणिधान :-** शुरु की गई क्रिया विधि में ही मन को पिरोना, उसके सिवाय किसी भी विचारों का मन में प्रवेश न होने देना मन का प्रणिधान है।

**2. वचन का प्रणिधान :-** जो सूत्रोच्चार चल रहा हो उसके उच्चारण, पद, संपदा का पूरा ध्यान रखना वचन प्रणिधान कहलाता है।

**3. काया का प्रणिधान :-** जिस मुद्रा में क्रिया करनी हो उसी मुद्राओं में काया को तल्लीन रखना, अन्य अप्रशस्त मुद्राएं न करना काया प्रणिधान कहलाता है।

सर्व आराधनाओं का मूल आधार है - प्रणिधान, एकाग्रता, स्थिरता। हृदय के अहोभावपूर्वक क्रिया विधि करने से छोटी सी आराधना भी अनंतगुणा फल देने वाली होती है। यहाँ पर दस त्रिक विधिपूर्ण होती है।

\*\*\*\*



# \* જૈન કર્મ મીમાંસા \*

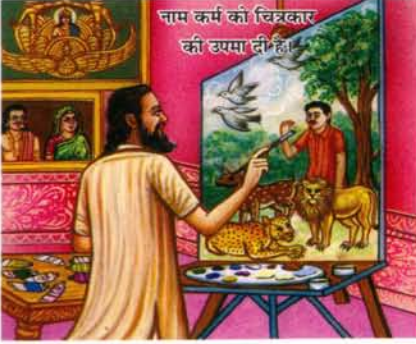
\* નામ કર્મ





## नाम कर्म

इस संसार में एक मनुष्य काला-कलूटा-बेडौल, वीभत्स आदि आकृति वाला है तो एक मनुष्य गुलाब के फूल जैसा सुन्दर एवं चित्ताकर्षक आकृति वाला है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित अंग-प्रत्यंग के कण-कण की रचना नाम कर्म द्वारा होती है। जिस कर्म के उदय से जीव विभिन्न गति, जाति, शरीर, रूप, रंग, वर्ण, स्पर्श, आकृति, प्रकृति आदि प्राप्त करता है, उसे नाम कर्म कहते हैं।



नाम कर्म को चित्रकार की उपमा दी गयी है। जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे चित्र बनाता है, उनमें विभिन्न रंग भरता है, उनकी विविध आकृतियाँ बनाता है, उसी प्रकार नाम कर्म भी भिन्न-भिन्न नाम, रूप आकार आकृति-प्रकृति वाले ऐसे शरीर का निर्माण करता है जो एक दूसरे से मेल न खाते हो। यह कर्म जीवात्मा की निज शक्तियों का घात न करने के कारण, आघाती कर्म हैं। आत्मा के अरूपीत्व गुण को ढंक कर रूपी शरीर और उससे सम्बन्धित अंगोपांगादि प्रदान करना नाम कर्म का कार्य है।

### \* नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

नाम कर्म की मुख्य दो उत्तर प्रकृतियाँ है - शुभ नाम और अशुभ नाम कर्म। शुभ प्रकृतियाँ पुण्य रूप है और अशुभ प्रकृतियाँ पाप रूप हैं।

### नाम कर्म की 103 प्रकृतियाँ

पिंड प्रकृति	-	75
प्रत्येक प्रकृति	-	8
त्रस दशक	-	10
स्थावर दशक	-	10
कुल	-	103 भेद

\* **पिंड प्रकृति** - पिंड का अर्थ होता है - समूह। जिनके दो, तीन, चार आदि अनेक उपभेद होते हैं, अनेक उपभेदों के समूह वाली प्रकृति को पिंड प्रकृति कहते हैं। पिंड प्रकृतियाँ के मुख्य 14 भेद हैं।

1. गति, 2. जाति, 3. शरीर, 4. अंगोपांग, 5. बंधन, 6. संघातन, 7. संघयण, 8. संस्थान, 9. वर्ण, 10. गंध, 11. रस, 12. स्पर्श, 13. आनुपूर्वी, 14. विहायोगति।

**1. गति नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव को देव, मनुष्यादि अवस्था प्राप्त होती है, देवादि पर्यायों को प्राप्त करने के लिए उस तरफ गमन-गति प्रवृत्ति करना गति नाम कर्म कहलाता है। इसके चार भेद है :-

**(1). नरक गति नाम कर्म** :- अतिशय दुख से परिपूर्ण भव को नरक भव कहते हैं। नरक भव की प्राप्ति करानेवाले कर्म को नरक गति नाम कर्म कहते हैं।







(2). **तिर्यच गति नाम कर्म** :- नरक की अपेक्षा कम दुख और देव-मनुष्य की अपेक्षा कम सुख वाला अविवेक युक्त भव तिर्यच भव। उस भव की प्राप्ति कराने वाले कर्म को तिर्यच गति नाम कर्म कहते हैं।



(3). **मनुष्य गति नाम कर्म** :- विवेक और धर्म की प्राप्ति और पंचम गति रूप मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला भव मनुष्य भव हैं। उस मनुष्य भव की प्राप्ति करानेवाले कर्म को मनुष्य गति नाम कर्म कहते हैं।



(4). **देवगति नाम कर्म** :- संसार से सुखो की अधिकता वाले भव को देव भव कहते हैं। उस भव की प्राप्ति करानेवाले कर्म को देवगति नाम कर्म कहते हैं।

**2. जाति नाम कर्म** :- इन्द्रिय रचना के निमित्त बनने वाला कर्म पुद्गल जाति कहलाते हैं। जाति का निर्णय करनेवाला जाति नाम कर्म हैं। जिस नाम कर्म के

उदय से समान चैतन्य अवस्था प्राप्त होती है-उसे जाति नाम कर्म कहते हैं। यहाँ चैतन्य अवस्था का अर्थ है समान जाति की प्राप्ति से हैं।

(ए). **एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म** :- जिन जीवों को एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है उनको एकेन्द्रिय कहा जाता है। जैसे पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।



(बी). **बेइन्द्रिय जाति नाम कर्म** :- जिन जीवों को स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय होती है, वे बेइन्द्रिय जाति के जीव कहे जाते हैं। जैसे-लट, कृमि, सीप आदि।



(सी). **तेइन्द्रिय जाति नाम कर्म** :- जिन जीवों को उपर्युक्त दो इन्द्रियों के साथ घ्राणेन्द्रिय होती है वे तेइन्द्रिय जाति के जीव कहे जाते हैं। जैसे : जूं, चींटी, खटमल, मकोड़ा आदि।



(डी). **चउरिन्द्रिय जाति नाम कर्म** :- जिन जीवों को उपर्युक्त तीन इन्द्रियों के साथ चक्षुरिन्द्रिय होती है वे चउरिन्द्रिय कहे जाते हैं। जैसे मक्खी, मच्छर, भमरा, बिच्छु आदि।



(ई). **पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म** :- जिन जीवों को उपर्युक्त इन्द्रियों के साथ श्रोतेन्द्रिय रूप पाँच इन्द्रियाँ होती है उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं। जैसे- देव, मनुष्य, नारकी, गाय, हाथी आदि तिर्यच जीव।



**3. शरीर नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव को शरीर की प्राप्ति होती है उसे शरीर नाम कर्म कहते हैं। यह पांच प्रकार का है



(ए). औदारिक शरीर नाम कर्म :- जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक शरीर की प्राप्ति होती है, उसे औदारिक शरीर नाम कर्म कहते हैं। जिस शरीर में माँस, रस, रक्त, अस्थि, वसा (चर्बी), शुक्र (वीर्य) और मज्जा

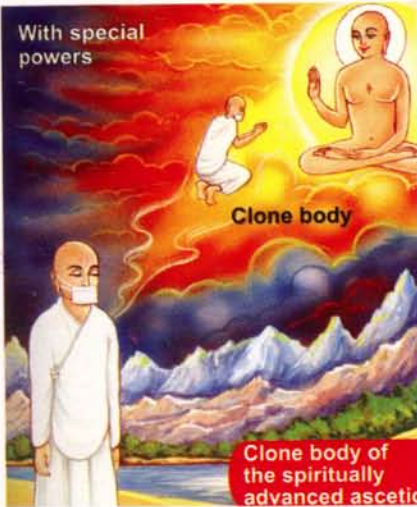


हो वह औदारिक शरीर हैं। सभी मनुष्य एवं तिर्यचों का शरीर औदारिक होता है।

(बी). वैक्रिय शरीर नाम कर्म :- विक्रिया अर्थात् विविध क्रियाएँ करने वाला शरीर। जिस नाम कर्म से जीव को वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होती है जो सुक्ष्म पुद्गलों से निर्मित होता है तथा विभिन्न प्रकार के रूप बनाये जा सकते हैं - उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते

हैं। ऐसा शरीर देव एवं नारकियों को जन्म से ही प्राप्त होता है, कुछ तिर्यच और मनुष्य तप, त्याग आदि द्वारा प्राप्त शक्ति विशेष से वैक्रिय शरीर धारण कर सकते हैं।

(सी). आहारक शरीर नाम कर्म :- जिस कर्म के उदय से जीव को आहारक शरीर की प्राप्ति हो, उसे आहारक शरीर नाम कर्म कहते हैं। तीर्थंकर परमात्मा की रिद्धि देखने के लिए, विशिष्ट ज्ञान के लिए तथा



अपने संशय का निराकरण करने के लिए चौदह पूर्वधर महात्मा स्फटिक की भाँति अत्युज्ज्वल एवं व्याघात रहित अर्थात् न तो स्वयं दूसरों से रूकता है और न दूसरों को रोकनेवाला होता है। जिस शरीर का निर्माण करते हैं, उसे आहारक शरीर कहते हैं। ऐसे शरीर से अन्य क्षेत्र में स्थित सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उनके संदेह का निवारण कर फिर अपने स्थान में पहुँच जाते हैं। यह कार्य सर्व भव की अपेक्षा से 4 बार और एक भव में 2 बार सिर्फ अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

(डी). तेजस शरीर नाम कर्म :- जिस कर्म के उदय से जीव को तैजस शरीर की प्राप्ति हो, उसे तैजस शरीर नाम

कर्म कहते हैं। तैजस पुद्गलों से बना हुआ, आहार को पचानेवाला तथा तेजोलेण्या और शीतलेण्या का साधक शरीर तैजस शरीर कहलाता है। सभी संसारी जीवों को यह शरीर होता है।

(ई). कार्मण शरीर नाम कर्म :- जिस कर्म के उदय से जीव को कार्मण शरीर







की प्राप्ति होती है, उसे कार्मण शरीर नाम कर्म कहते हैं। कार्मण वर्गणा से बने शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं। कार्मण शरीर स्वयं आठ कर्म रूप हैं। इसका अंत किये बिना संसार चक्र का अंत नहीं होता है।

**\* किस गति में कितने शरीर पाये जाते हैं**

**देवगति :-** वैक्रिय - तैजस - कार्मण शरीर ।

**नरक गति :-** वैक्रिय - तैजस - कार्मण शरीर ।

**मनुष्य गति :-** औदारिक - वैक्रिय - आहारक - तैजस - कार्मण शरीर ।

**पृथ्वीकाय - अपकाय-तेउकाय-वनस्पतिकाय :-** औदारिक-तैजस-कार्मण शरीर ।

**वायुकाय :-** औदारिक - वैक्रिय - तैजस - कार्मण शरीर ।

**विकलेन्द्रिय :-** औदारिक - तैजस - कार्मण शरीर ।

**तिर्यच पंचेन्द्रिय :-** औदारिक - वैक्रिय - तैजस - कार्मण शरीर ।

**एक साथ एक जीव के कितने शरीर हो सकते हैं?**

**दो शरीर** - तैजस - कार्मण

**तीन शरीर** - औदारिक - तैजस - कार्मण

वैक्रिय - तैजस - कार्मण

**चार शरीर** - औदारिक - वैक्रिय - तैजस - कार्मण / औदारिक - आहारक - तैजस - कार्मण

कभी भी एक शरीर नहीं हो सकता है। एक साथ पांच शरीर भी नहीं हो सकते हैं।

**4. अंगोपांग नाम कर्म :** जिस कर्म के उदय से शरीर में अंग, उपांग एवं अंगोपांग की रचना होती है उसे अंगोपांग नाम कर्म कहते हैं।

**अंग -** शरीर के मुख्य अवयवों को अंग कहते हैं। अंग आठ है - दो हाथ, दो पाँव, पीठ, पेट, छाती और मस्तक

**उपांग -** अंग के उप अवयवों को उपांग कहते हैं। जैसे - आंख, कान, अंगुलियाँ, घुटने, जंघा, नाभी, रीढ़ की हड्डी आदि।

**अंगोपांग -** उपांग के उप अवयवों को अंगोपांग कहते हैं। जैसे - नाखुन, रेखाएँ, कीकी आदि।

**इस कर्म के 3 भेद है**

1. औदारिक अंगोपांग नाम कर्म, 2. वैक्रिय अंगोपांग नाम कर्म, 3. आहारक अंगोपांग नाम कर्म

तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग नहीं होते हैं। एकेन्द्रिय जीव को अंगोपांग नाम कर्म का उदय





नहीं होता क्योंकि उनके शरीर में अंगोपांग नहीं होते हैं।

**5. बंधन नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीर के योग्य पूर्व में ग्रहण किये गये पुद्गलों का एवं नये-नये ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे बंधन नाम कर्म कहते हैं। **इसके मुख्य 5 भेद हैं**

1. औदारिक बंधन नाम कर्म, 2. वैक्रिय बंधन नाम कर्म, 3. आहारक बंधन नाम कर्म, 4. तैजस बंधन नाम कर्म 5. कार्मण बंधन नाम कर्म। इसके 15 भेद भी हैं

औदारिक - औदारिक बंधन	वैक्रिय - वैक्रिय बंधन
आदौरिक - तैजस बंधन	वैक्रिय - तैजस बंधन
औदारिक - कार्मण बंधन	वैक्रिय - कार्मण बंधन
औदारिक - तैजस कार्मण बंधन	वैक्रिय - तैजस कार्मण बंधन
आहारक - आहारक बंधन	तैजस - तैजस बंधन
आहारक - तैजस बंधन	कार्मण - कार्मण बंधन
आहारक - कार्मण बंधन	तैजस - कार्मण बंधन
आहारक - तैजस कार्मण बंधन	

औदारिक, वैक्रिय, आहारक बंधन के भंगे नहीं होता क्योंकि वे परस्पर विजातीय हैं। औदारिक शरीर आत्मा जब वैक्रिय अथवा आहारक शरीर का निर्माण करती है तब वे दोनों शरीर एक मेक, ओतप्रोत नहीं होते हैं जिस प्रकार तैजस और कार्मण शरीर औदारिकादि के साथ एकमेक होते हैं। औदारिक शरीर वाली आत्मा जब आहारक अथवा वैक्रिय शरीर का निर्माण करती है वे औदारिक शरीर से भिन्न होते हैं।

देवात्मा जब औदारिक शरीर में प्रवेश करती है तब देवो का वैक्रिय शरीर अलग होता है, औदारिक शरीर के साथ मात्र संयोग होता है तदात्म्य भाव नहीं होता है। जब देवात्मा चली जाती है तब वैक्रिय शरीर भी चला जाता है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर में तादात्म्य भाव नहीं होने से उनका बंधन नाम कर्म नहीं होता है।

**6. संघातन नाम कर्म :-** जो कर्म औदारिकादि पाँच शरीर के निर्माण के अनुरूप पुद्गलों को एकत्र करता है, उसे संघातन नाम कर्म कहते हैं। जिस प्रकार दंताली अलग-अलग स्थानों पर बिखरी हुई घास को एकत्र करती है ठीक उसी प्रकार संघातन नाम कर्म बिखरे हुए पुद्गलों का एकत्र करता है।

**शरीर के नाम से ही उनके 5 प्रकार इस तरह हैं**

1. औदारिक संघातन
2. वैक्रिय संघातन
3. आहारक संघातन
4. तैजस संघातन
5. कार्मण संघातन

7. **संघयण (संहनन) नाम कर्म** :- हड्डियों का आपस में जुड़ना, मिलना, अर्थात् जिस नाम कर्म के उदय से हड्डियों की रचना विशेष होती है, उसे संघयण नाम कर्म कहते हैं।

(1.) **वज्र ऋषभ नाराच संघयण नाम कर्म** :- वज्र, ऋषभ और नाराच इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न



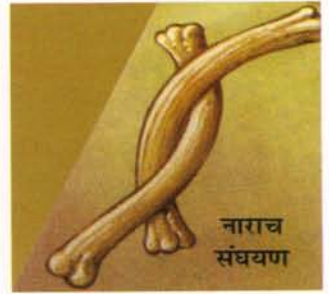
वज्रऋषभनाराच पद हैं। 'वज्र' का अर्थ कील है, ऋषभ का

अर्थ वेष्टन पट्ट (पट्टि) है और 'नाराच' का अर्थ दोनों ओर से मर्कट बंध हैं। जिस संहनन में दोनों तरफ से मर्कट बंध से जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिसमें इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील बीच में हो उसे वज्र ऋषभ नाराच संघयण कहते हैं। यह सबसे सुदृढ़ पराक्रमी शरीर में होता है। अरिहंत, चक्रवर्ती आदि को यह संघयण होता है।

(2). **ऋषभ नाराच संघयण नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना विशेष में दोनों तरफ मर्कट बंध हो, तीसरी हड्डी का वेष्टन भी हो लेकिन तीनों को भेदनेवाली हड्डी की कील न हो, ऐसे ऋषभ नाराच संघयण कहते हैं।



(3). **नाराच संघयण नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में दोनों तरफ मर्कट बंध हो, लेकिन वेष्टन और कील न हो उसे नाराच संघयण नाम कर्म कहते हैं।



(4). **अर्धनाराच संघयण नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में एक और मर्कटबंध और दूसरी ओर कील हो उसे अर्धनाराच संघयण नाम कर्म कहते हैं।



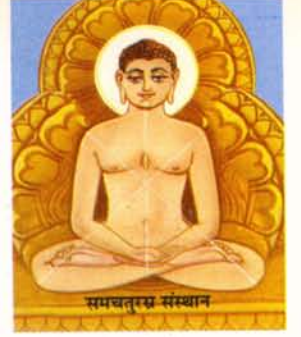
(5). **कीलिका संघयण नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबंध, वेष्टन और कील न होकर यो ही हड्डियों आपस में जुड़ी हो उसे सेवार्तसंघयण नाम कर्म कहते हैं। सेवार्त को छेवह अथवा छेदवृत्त भी कहते हैं।



8. **संस्थान नाम कर्म** :- शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीर की संरचना, शास्त्र में कहे गये प्रमाणों के अनुरूप माप वाली अथवा माप रहित प्राप्त होती है, उसे संस्थान नाम कर्म कहते हैं। यह छह प्रकार का है

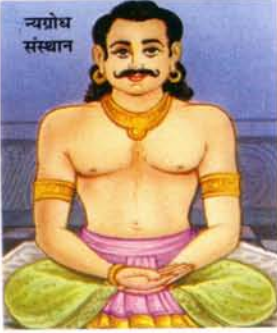


**1. समचतुरस संस्थान नाम कर्म :-** 'सम' का अर्थ है समान, 'चतु' का अर्थ है चार, और अस का अर्थ है कोण। पालथी मारकर बैठने पर जिस मनुष्य के शरीर के चारों कोण (एक घुटने से दूसरे घुटने तक, बाएँ घुटने से दाएँ स्कन्ध तक, दाएँ घुटने से बाएँ स्कन्ध तक और आसन से कपाल तक-यह चार कोण है) की दूरी या अन्तर समान हो, उसे समचतुरस संस्थान कहते हैं।

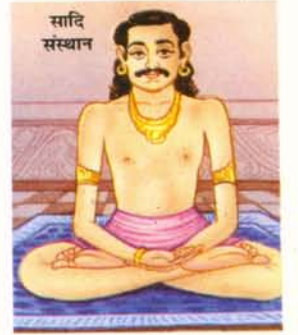


**2. न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान :-** वट वृक्ष को

न्यग्रोध कहते हैं। वट वृक्ष ऊपर के भाग में फैला हुआ और सुशोभित होता है, और नीचे के भाग में संकुचित होता है उसी प्रकार जिस संस्थान में नाभि से उपर का भाग सुन्दर होता है। नाभि के ऊपर के अंगोपांग प्रामाणिक होते हैं परन्तु नीचे के अंगोपांग अप्रामाणिक हो, लक्षण बिना के हो उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान कहते हैं।



**3. सादि संस्थान नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से नाभि के उपर के अवयव प्रमाण और लक्षण बिना के होते हैं परन्तु नाभि के नीचे के अवयव सुन्दर प्रामाणिक और लक्षण से युक्त होते हैं, उसे सादि संस्थान नाम कर्म कहते हैं।



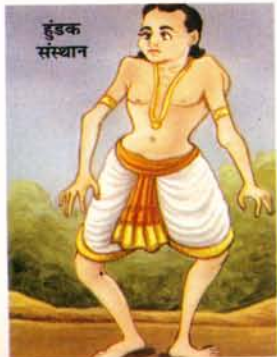
**4. कुब्ज संस्थान नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से सिर, गर्दन, हाथ व पैर ये चारों अंग प्रमाणों से युक्त होते हैं किन्तु सीना, पेट आदि प्रमाण-लक्षणों से हीन होते हैं - अप्रामाणिक व टेढ़े होते हैं, उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं।



**5. वामन संस्थान नाम कर्म :-** कुब्ज संस्थान से विपरीत वामन संस्थान है। जिस कर्म के उदय से मस्तक, ग्रीवा (गर्दन), हाथ और पाँव, ये चार मुख्य अंग अप्रामाणिक हो छोटे हो, शेष अंग प्रामाणिक एवं लक्षण युक्त हो उसे वामन संस्थान कहते हैं।



**6. हुण्डक संस्थान नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से शरीर के सारे अंगोपांग अप्रामाणिक - अलाक्षणिक हो, उसे हुण्डक संस्थान कहते हैं। समस्त देवों में केवल समचतुरस संस्थान पाया जाता है।



पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकायिक एवं विकलेन्द्रिय जीवों का केवल हुण्डक संस्थान ही पाया जाता है। नारकी जीवों में भी हुण्डक संस्थान ही पाया जाता है। मनुष्य एवं तिर्यच पंचेन्द्रिय में छहों संस्थान पाये जाते हैं।



**9. वर्ण नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव को वर्ण (रंग) की प्राप्ति होती है, उसे वर्ण नाम कर्म कहते हैं। यह पांच प्रकार का है :-

1. रक्त (लाल) 2. पीत (पीला) 3. कृष्ण (काला) 4. हरा और 5. श्वेत । जिस जीव ने जैसा वर्ण नाम कर्म बांधा है उसके शरीर का रंग वैसा ही होता है। कोई गोरा होता है तो कोई काला होता है। किसी की चमड़ी सफेद है तो किसी की काली या पीली है इसका कारण जीव का वर्ण नाम कर्म है।



**10. गंध नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से शरीर में सुगंध अथवा दुर्गंध की प्राप्ति होती है उसे गंध नाम कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का है

1. **सुरभि गंध नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर से गुलाब, कस्तुरी, चंदन आदि पदार्थों जैसी खुशबु आती हो उसे सुरभि गंध नाम कर्म कहते हैं।

2. **दुरभि गंध नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर से कीचड़, लहसुन, सड़े - गले पदार्थों जैसी दुर्गंध आती हो उसे दुरभि गंध नाम कर्म कहते हैं।



11. **रस नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव को शरीर में मधुर, तिक्तादि रसों की प्राप्ति होती है उसे रस नाम कहते हैं। इसके पांच भेद हैं।



1. **तिक्त रस नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय होने से जीव का शरीर रस सोठ या काली मिर्च जैसा चरपरा हो, उसे तिक्त रस नाम कर्म कहते हैं।

2. **कटु रस नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस चिरायता, नीम जैसा कटु हो उसे कटु रस नाम कर्म कहते हैं।

3. **कषाय रस नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस आँवला, बहेडा जैसा कसौला हो, वह कषाय रस नाम कर्म है।

4. **आम्ल रस नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस नींबू, इमली जैस खटटे पदार्थों जैसा हो उसे आम्ल रस नाम कर्म कहा

जाता है।

5. **मधुर रस नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस मिश्री आदि मीठे पदार्थ जैसा हो, उसे मधुर रस नाम कर्म कहते हैं।

12. **स्पर्श नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में शीत, उष्ण आदि स्पर्श की प्राप्ति हो, उसे स्पर्श नाम कर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं







1. **गुरु स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो, वह गुरु स्पर्श नाम कर्म है।



2. **लघु स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर रूई जैसा हल्का हो - वह लघुस्पर्श नाम कर्म है।



3. **मुदु स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल हो, वह मुदुस्पर्श नाम कर्म है।



4. **कर्कश स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर पत्थर जैसा खुरदरा, कर्कश हो, वह कर्कश नाम कर्म है।



5. **शीत स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बर्फ जैसा ठंडा हो उसे शीत स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।



6. **उष्ण स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आग जैसा उष्ण (गरम) हो उसे उष्ण स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।



7. **स्निग्ध स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तेल जैसा चिकना हो, उसे स्निग्ध स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।



8. **रूक्ष स्पर्श नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बालू जैसा रूखा हो, उसे रूक्ष स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

13. **आनुपूर्वी नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से अपने उत्पत्ति स्थान पर



पहुँचाता है, उसे आनुपूर्वीनाम कर्म कहते हैं। विग्रहगति यानि एक भव से दूसरे भव में उत्पन्न होने के मध्य के काल में होने वाली आत्मा की गति अर्थात् परभव में जाते हुए जीव को उत्पत्ति क्षेत्र की तरफ मोड़ने का काम करने वाले कर्म को आनुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं। इस कर्म का उदय विग्रह गति में ही होता है। इसके चार भेद हैं।

1. **नरकानुपूर्वी** :- जीव को नरक भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार गति करवाने एवं उत्पत्ति स्थान की तरफ मोड़ गमन करवाने वाले कर्म को नरकानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

2. **तिर्यचानुपूर्वी नाम कर्म** :- जीव को तिर्यच भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति स्थल की तरफ मोड़ गमन करवाने वाले कर्म को तिर्यचानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

3. **मनुष्यानुपूर्वी नाम कर्म** :- जीव को मनुष्य भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति स्थल की तरफ मोड़ गमन करवाने वाले कर्म को मनुष्यानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

4. **देवानुपूर्वी नाम कर्म** :- जीव को देव भव में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति स्थल



की तरफ मोड़ गमन करवाने वाले कर्म को देवानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

**14. विहायोगति नाम कर्म** : जीव की चाल को विहायोगति कहते हैं। उसे प्रदान करने वाले कर्म को विहायोगति नाम कर्म कहते हैं। **उसके दो भेद हैं।**



**1. शुभ विहायोगति नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव को हंस, हाथी आदि जैसी सुन्दर, प्रशंसनीय चाल, गति अथवा गमन क्रिया की प्राप्ति होती है, उसे शुभ विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

**2. अशुभ विहायोगति नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव को ऊँट, गधा आदि जैसी अशुभ चाल प्राप्त



होती है, उसे अशुभ विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

**\* प्रत्येक प्रकृति** :- जिस प्रकृति के भेद-उपभेद नहीं होते हैं उसे प्रत्येक प्रकृति कहते हैं। यह आठ प्रकार की है।



**1. परघात नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से व्यक्ति इतना तेजस्वी बनता है कि बलवान व्यक्ति भी उसके सामने हार जाते हैं विरोध नहीं कर पाते हैं उसे पराघात नाम कर्म कहते हैं। उसके चेहरे पर तेज और वाणी में ऐसा ओज होता है कि लोग उसे देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं।

**2. उच्छवास नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव निर्बाध श्वास ले सकता है और छोड़ सकता है, उसे उच्छवास नाम कर्म कहते हैं।



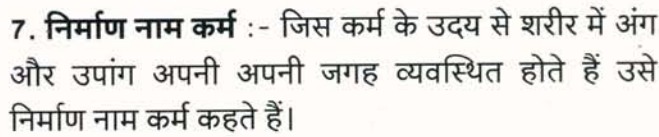
**3. आतप नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का स्वयं का शरीर अनुष्ण (शीतल) होने पर भी उष्ण प्रकाश प्रदान करता है उसे आतप नाम कर्म कहते हैं। इस प्रकार का शरीर सूर्य विमान में रहे हुए पृथ्वीकाय के जीवों को होता है।

**4. उद्योग नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शीत शरीर होने पर शीत प्रकाश प्रदान करता है, उसे उद्योग नाम कर्म कहते हैं। ऐसा शरीर जुगनु, चन्द्रादि ज्योतिषी विमानों के जीवों को तथा देवता के उत्तर वैक्रिय शरीर के समय तथा लब्धि धारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं तब होता है।



**5. अगुरुलघु नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न अति भारी और न अति हल्का होता है, शरीर प्रमाण युक्त वजनवाला होता है, वह अगुरुलघु नाम कर्म हैं।





\* त्रस दशक में दस प्रकृतियाँ होती है ये निम्न है

**4. प्रत्येक शरीर नाम कर्म :-** इस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतंत्र शरीर प्राप्त होता है। साधारण वनस्पतिकाय के अतिरिक्त सभी जीवों को प्रत्येक नाम कर्म का ही उदय रहता है।



धान बीज

फूल

सब्जी पत्ते

फल



**6. शुभ नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से नाभि से उपर के अवयव सुन्दर/शुभ /प्रामाणिक रूप से मिलते हैं, उसे शुभ नाम कर्म कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को चेहरा, हाथ, आँख, नाक-नक्शा सुन्दर प्राप्त होता हैं।



**7. सुभग (सौभाग्य) नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार न करने पर भी और किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर भी सभी को प्रिय लगता है, उसे सुभग नाम कर्म कहते हैं।



**8. सुस्वर नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव को सुखकारी, मधुर एवं प्रिय लगने वाली वाणी प्राप्त होती है, उसे सुस्वर नाम कर्म कहते हैं।

**9. आदेय नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो, उसे आदेय नाम कर्म कहते हैं।



**10. यशः कीर्ति नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव की संसार में यश और कीर्ति फैले उसे यशः कीर्ति नाम कर्म कहते हैं। यशः कीर्ति यह पद यश और कीर्ति दो शब्दों से निष्पन्न है।



किसी एक दिशा में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति और सब दिशाओं में प्रशंसा हो उसे यश कहते हैं। दान, तप, त्याग आदि से जो प्रसिद्धि होती है उसे कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो ख्याति होती है, उसे यश कहते हैं।

स्थावर दशक की भी दस प्रकृतियाँ हैं। यह त्रसदशक प्रकृतियों से विपरीत

प्रभाववाली होती है।

**1. स्थावर नाम कर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव अनुकूल-प्रतिकूल अथवा सुख-दुख के संयोगों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन नहीं कर सकता है, एक स्थान पर ही स्थिर रहता है, उसे स्थावर नाम कर्म कहते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को इस नाम का उदय रहता है।

**2. सूक्ष्म नाम कर्म :-** जिस नाम कर्म के उदय से असंख्य या अनंत जीवों के शरीर एकत्र होने पर भी आँख से अथवा किसी अन्य यंत्र से दिखाई नहीं देते हैं, उसे सूक्ष्म नाम कर्म कहते हैं।





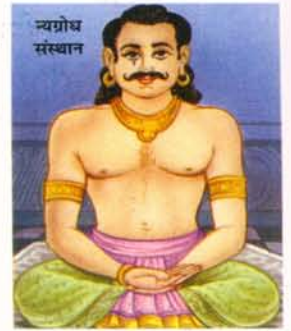
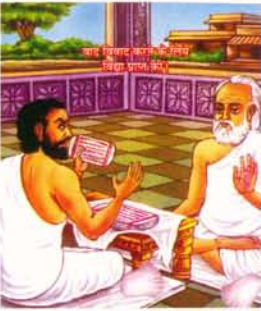
3. **अपर्याप्त नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे उसे अपर्याप्त नाम कर्म कहते हैं।



4. **साधारण नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर की प्राप्ति होती है, अनन्त जीव एक ही काया में रहते हैं। उसे साधारण नाम कर्म कहते हैं। इस साधारण शरीरधारी अनन्त जीवों के जीवन, मरण, आहार श्वासोच्छ्वास आदि परस्पराश्रित होते हैं। इसलिए वे साधारण कहलाते हैं। अर्थात् साधारण जीवों के आहारादिक कार्य सदृश और समान काल में होते हैं।

5. **अस्थिर नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से कान, नाक, जीभ आदि अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं, उसे अस्थिर नाम कर्म कहते हैं।

6. **अशुभ नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव अशुभ हो, उसे अशुभनाम कर्म कहते हैं। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, वही अशुभत्व का लक्षण है।



7. **दुर्भग या दौर्भाग्य नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव उपकार करने पर भी सभी को अप्रिय लगता है, अपमान को प्राप्त करता है, उसे दुर्भग या दौर्भाग्य नाम कर्म कहते हैं।

8. **दुःस्वर नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव को अप्रिय-कर्कश स्वर की प्राप्ति होती है, उसे दुःस्वर नाम कर्म कहते हैं।



9. **अनादेय नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से हितकारी, सही एवं उचित बात कहने पर भी लोग अमान्य करते हैं, ठुकरा देते हैं, उसे अनादेय नाम कर्म कहते हैं।



10. **अयशः कीर्ति नाम कर्म** :- जिस कर्म के उदय से जीव को निंदा, अकीर्ति और अयश मिलता है, उसे अयशकीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

स्थावर दशक की इन दस प्रकृतियों के विवेचन के साथ नाम कर्म की 103 प्रकृतियों का कथन समाप्त हुआ।



## नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

### पिंड प्रकृतियाँ

1. गति नाम कर्म
2. जाति
3. शरीर
4. अंगोपांग
5. बंधन
6. संघातन
7. संघयण
8. संस्थान
9. वर्ण
10. गंध
11. रस
12. स्पर्श
13. आनुपूर्वी
14. विहायोगति

### प्रत्येक प्रकृतियाँ

1. पराघात नाम कर्म
2. उच्छवास नाम कर्म
3. आतप नाम कर्म
4. उद्योत नाम कर्म
5. अगुरू लघु नाम कर्म
6. तीर्थकर नाम कर्म
7. निर्माण नाम कर्म
8. उपघात नाम कर्म

### त्रस दशक

1. त्रस नाम कर्म
2. बादर
3. पर्याप्त
4. प्रत्येक शरीर
5. स्थिर
6. शुभ
7. सुभग
8. सुस्वर
9. आदेय
10. यशः कीर्ति

### स्थावर

1. स्थावर नाम कर्म
2. सुक्ष्म
3. अपर्याप्त
4. साधारण शरीर
5. अस्थिर
6. अशुभ
7. दुर्भग
8. दुःस्वर
9. अनादेय
10. अयशः कीर्ति

## 14 पिंड प्रकृतियों के आवान्तर भेद

### गति नाम

- 1 नरक गति
2. तिर्यच
3. मनुष्य
4. देव

### जाति नाम

1. एकेन्द्रिय
2. बेइन्द्रिय
3. तेइन्द्रिय
4. चउरिन्द्रिय
5. पंचेन्द्रिय

### शरीर नाम

1. औदारिक शरीर
2. वैक्रिय शरीर
3. आहारक शरीर
4. तैजस शरीर
5. कार्मण शरीर

### शरीर अंगोपांग

1. औदारिक अंगोपांग
2. वैक्रिय अंगोपांग
3. आहारक अंगोपांग

### शरीर बंधन नाम

1. औदारिक शरीर बंधन
2. वैक्रिय शरीर बंधन
3. आहारक शरीर बंधन
4. तैजस शरीर बंधन
5. कार्मण शरीर बंधन

### संघातन नाम

1. औदारिक शरीर संघातन
2. वैक्रिय शरीर संघातन
3. आहारक शरीर संघातन
4. तैजस शरीर संघातन
5. कार्मण शरीर संघातन

### संहनन (संघयण)

1. वज्र ऋषभ नाराच संघयण
2. ऋषभ नाराच संघयण
3. नाराच संघयण
4. अर्धनाराच संघयण
5. सेवार्त संघयण

### संस्थान नाम

1. समचतुरस्र संस्थान
2. न्यग्रोध परिमंडल
3. सादि
4. कुब्ज
5. वामन
6. हुण्डक

### वर्ण नाम

1. रक्त
2. पील
3. कृष्ण
4. हरा
5. श्वेत



गंधनाम	रस नाम	स्पर्शनाम	आनुपूर्वी	विहायोगति
1. सुरभि गंध	1. तिक्त रस	1. गुरू स्पर्श	1. नरकानुपूर्वी नाम	1. शुभ विहायोगति
2. दुरभि गंध	2. कटु रस	2. लघु स्पर्श	2. तिर्यचानुपूर्वी नाम	2. अशुभ विहायोगति
	3. कषाय रस	3. मुदु स्पर्श	3. मनुष्यानुपूर्वी नाम	
	4. आम्ल रस	4. कर्कश स्पर्श	4. देवानुपूर्वी नाम	
	5. मधुर रस	5. शीत स्पर्श		
		6. उष्ण स्पर्श		
		7. स्निग्ध स्पर्श		
		8. रूक्ष स्पर्श		

### नाम कर्म बंध के हेतु

ग्रन्थकार ने नाम कर्म की विशालता एवं गहनता को देखते हुए एक-एक प्रकृति के बंध हेतु पर प्रकाश न डालते हुए सम्पूर्ण नाम कर्म को दो भागों में विभक्त किया है :

1. शुभ नाम कर्म और 2. अशुभ नाम कर्म

### शुभ नाम कर्म के बंध हेतु

1. सरल स्वभाव :- सरल अर्थात् छल-कपट रहित होना, मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में एक रूपता होना।
2. गारव रहित :- अर्थात् अपनी ऋद्धि, वैभव, शरीर, सौंदर्य आदि का अभिमान रहित होना।

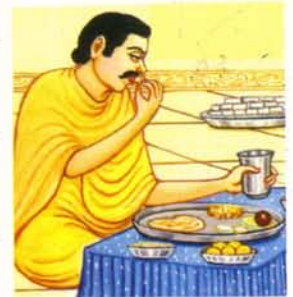


गारव तीन प्रकार का है।

1. ऋद्धि गारव 2. रस गारव और 3. शांता गारव

1. **ऋद्धि गारव** :- धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, सत्ता आदि से अपने को महत्वशाली समझना ऋद्धि गारव है।

2. **रस गारव** :- खाद्य पदार्थों के प्रति आसक्ति रस गारव हैं।



3. **शांता गारव** :- शरीर के स्वास्थ्य, सौंदर्य आदि का अभिमान करना, उसके प्रति आसक्ति शांता गारव हैं।



3. **अविसंवादन** :- दो व्यक्तियों के आपसी मतभेदों को मिटाकर एकता करा देना अथवा गलत रास्ते पर जाने वाले को सही मार्ग पर लगा देना।

इसके विपरीत अर्थात् वक्र स्वभाव वाला, अतिशय गारव से युक्त और विसंवाद से जीव अशुभ नाम कर्म का बंध करता है।



नाम कर्म की प्रकृतियों में तीर्थकर नाम कर्म बहुत ही महत्वपूर्ण है, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य आदि वीस पदों (बीस स्थानक तप) की विधिपूर्वक आराधना, अत्यन्त आदर बहुमान और 'सर्व जीव करुण शासन रसी' की उत्तम भावना के साथ करने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है। अतएव उसके बंध हेतुओं को अलग से बताया जा रहा है।



**1. अरिहंत पद :-** घातिकर्मों का नाश करने वाले इन्द्रादि द्वारा वन्दनीय, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न, चौत्तीस अतिशय और पैंतीस वाणी के गुणों से युक्त अरिहंत भगवान के गुणों की स्तुति और विनय भक्ति करता हुआ जीव उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थकर नाम कर्म का बंध करता है।

**2. सिद्ध पद :-** समस्त कर्मों का नष्ट कर लोकाग्र पर विराजमान सिद्ध भगवान की भक्ति एवं उनके गुणों का चिंतन करने से।



**3. प्रवचन पद :-** द्वादशांगी रूप श्रुत की भक्ति करता हुआ जीव भावना की उत्कृष्टता होने पर तीर्थकर नाम कर्म का बंध करता है।

**4. आचार्य पद :-** 36 गुणों के धारक आचार्य महाराज की भक्ति, उनके गुणानुवाद एवं आहार, वस्त्रादि द्वारा सेवा करता हुआ जीव उत्कृष्ट भावना आने पर तीर्थकर नाम कर्म का बंध करता है।



**5. स्थविर पद :-** जाति (वय) स्थविर (60 वर्ष की वय से अधिक उम्र वाले) श्रुत-स्थविर (स्थानांग और समवायांग के धारक) और प्रव्रज्या (दीक्षा) स्थविर (20 वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले) की भक्ति, स्तुति, वन्दना, आदि करने से।



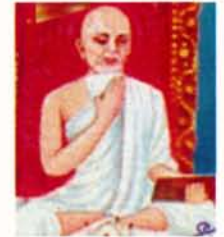
**6. उपाध्याय पद :-** बहुश्रुत (सूत्र, अर्थ और तदुभय युक्त) मुनिराज की भक्ति करने से।

**7. साधु पद :-** पंच महाव्रतधारी बाईस परिषहों को समभावपूर्वक सहन करने वाले सत्ताईस गुणों के धारक साधु मुनिराज की भक्ति करने से।



**8. ज्ञान पद :-** निरन्तर सतत तत्वाभ्यास करने से।

**9. दर्शन पद :-** सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को मानने से देव-गुरु-धर्म पर सच्ची श्रद्धा रखने से एवं सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करने से।







10. **विनय पद** :- सम्यक ज्ञान-दर्शन-चारित्र और उनके साधनों के प्रति समुचित आदर भाव रखने से।



11. **चारित्र पद** :- शुद्ध भाव से दोनो समय षडावश्यक रूप प्रतिक्रमण करने से।



12. **ब्रह्मचर्य पद** :- मूल गुण और उत्तर गुणों का निर्दोष रीति से शुद्धतापूर्वक पालन करने से।



13. **क्रिया पद** :- राग विरक्ति, भोग विरक्ति, मोह विरक्ति, अहं विरक्ति, लोभ विरक्ति, अनासक्त भाव का निरन्तर अभ्यास करने से।



14. **तप पद** :- यथाशक्ति बाह्य और आभ्यन्तर तप भावपूर्वक करते रहने से।



15. **दान (गौतम) पद** :- सुपात्र को यथोचित दान देने से।



16. **बाजेन पद (वैयावृत्य)** :- आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, स्वधर्मी, कुल, गण, संघ-इन दस की भाव भक्ति पूर्वक वैयावृत्य करने से।



17. **संयम पद** :- स्वयं समाधिभाव में संयम युक्त जीवन जीने से अथवा गुरुजनों का मन सेवादि द्वारा प्रसन्न रखने से।



18. **अभिनवज्ञान पद** :- निरन्तर नवीन ज्ञान का अभ्यास करने से।



19. **श्रुत पद** :- श्रुतज्ञान की भक्ति एवं बहुमान करने से।

20. **तीर्थ पद** :- संसार सागर से जो तारता है, वह तीर्थ है। ऐसे तीर्थ की आराधना करने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है।

इन बीस कारणों से जीव उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थकर नाम कर्म का बंध करता है। उक्त रीति से तीर्थकर नाम कर्म का उपार्जन करने वाला महापुण्यवंत जीव बीच में देव या नारक का एक भव करके तीसरे भव में तीर्थकर पद अरिहंत पद को प्राप्त करता है।



\*\*\*\*

# \* सूत्रार्थ \*

मंदिरमार्गी परंपरा के अनुसार :- सव्वस्सवि सूत्र  
इच्छामि ठामि सूत्र  
पुक्खरवरदीवङ्गे सूत्र  
सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र  
वेयावच्चगराणं सूत्र  
सुगुरुवंदन सूत्र

स्थानकवासी परंपरा के अनुसार:-इच्छामि खमासमणो का पाठ  
तस्स सव्वस्स  
बडी संलेखना  
तस्स धम्मस्स  
आयरिय उवज्झाए का पाठ  
क्षमापना पाठ  
समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ



## \* मंदिरमार्गी परंपरा के अनुसार \*

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्  
देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं

### \* सव्वस्सवि सूत्र \*

इच्छं सव्वस्स वि देवसिअ दुच्चित्तिअ दुब्भासिअ दुच्चिद्धिअ तस्स मिच्छामी दुक्कडं।

शब्दार्थ



इच्छाकारेण - अपनी इच्छा से

वि - भी।

संदिसह - आज्ञा प्रदान करो।

देवसिअ - दिवस संबंधी, दिन में।

भगवन् - हे भगवान।

दुच्चित्तिअ - दुष्ट चिंतन किया हो।

देवसिअ पडिक्कमणे - दैवसिकप्रतिक्रमण में।

दुब्भासिअ - दुष्ट भाषण किया है।

ठाउं - स्थिर होने की।

दुच्चित्तिअ - दुष्ट चिंतन किया हो।

इच्छं- मैंभगवंत केइस वचन कोस्वीकार करता हूं

तस्स - उनका। मिच्छा - मिथ्या हो।

सव्वस्स - सबका।

मि दुक्कडं - मेरा दुष्कृत।

भावार्थ : हे भगवान! स्वेच्छा से मुझे दैवसिक प्रतिक्रमण में स्थिर होने की आज्ञा प्रदान करो। मैं भगवन्त के इस वचन को स्वीकार करता हूं। सारे दिन में यदि मैंने कोई भी दुष्ट चिंतन किया हो, दुष्ट वचन कहा हो तथा शरीर द्वारा दुष्ट चेष्टा की हो उन सब पापों का मिथ्या दुष्कृत्य द्वारा मैं प्रतिक्रमण करता हू।

### \* इच्छामि ठामि सूत्र \*



इच्छामि ठामि काउस्सगं। जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ, उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो, दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ, अणायारो अणिच्छिअव्वो असावगपाउग्गो, नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते, सुए सामाइए। तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिख्खावयाणं बारस-विहस्स सावग-धम्मस्स जं खंडिअं, जं विराहिअं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

शब्दार्थ

इच्छामि - मैं चाहता हूं।

कओ - किया हो, हुआ हो।

ठामि - करना

काइओ - काया द्वारा।

काउस्सगं - कायोत्सर्ग।

वाइओ - वाणी द्वारा।

जो - जो।

माणसिओ - मन द्वारा।

मे - मेरे द्वारा।

उस्सुत्तो - सूत्र के विरुद्ध भाषाण करने में।

देवसिओ - दिवस संबंधी।

उम्मग्गो - उन्मार्ग-मार्ग के विरुद्ध आचरण।

अइयारो - अतिचार।

अकप्पो - कल्प के विरुद्ध बर्ताव।

अकरणिज्जो - नहीं करने योग्य कार्य।

दुज्झाओ - दुर्ध्यान से।

दुव्विचिंतिओ - दुष्ट चिंतन से।

अणायारो - अनाचार से।

अणिच्छिअव्वो - अनिच्छित बर्ताव।

असावग-पाउग्गो - श्रावक के लिये नहीं करने योग्य।

नाणे - ज्ञान में।

दंसणे - दर्शन में।

चरित्ताचरित्ते - देश विरति चारित्र के विषय में।

सुए-श्रुत - शास्त्र के विषय में।

सामाइए - सामायिक में।

तिण्हं गुत्तीण - तीन गुप्तियों की।

अर्थ : इस सूत्र द्वारा दिन / रात्री संबंधी मन, वचन, काया से श्रावक धर्म में किये हुए पाप की आलोचना है। इसलिए इस सूत्र को बोलते समय उपयोग रखकर स्वयं सारे दिन / रात में जो जो काम किया हो वे सब याद करके शुद्ध अंतःकरण से उनका पश्चाताप करने का है।

भावार्थ : ज्ञान, दर्शन देश विरति चारित्र, श्रुत धर्म तथा सामायिक के विषय में मैंने दिन में जो कायिक-वाचिक और मानसिक अतिचारों को सेवन किया हो उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो। सूत्र विरुद्ध, मार्ग विरुद्ध, आचार्य विरुद्ध तथा कल्प विरुद्ध, नहीं करने योग्य दुर्ध्यान किया हो, दुष्ट चिंतन किया हो, नहीं आचरण करने योग्य, नहीं चाहने योग्य अथवा श्रावक के लिये सर्वथा अनुचित ऐसे व्यवहार से (इनमें से) जो कोई अतिचार सेवन किया हो तत्संबंधी मेरा पाप मिथ्या हो। एवं चार कषाय द्वारा तीन गुप्ति संबंधी, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के श्रावक धर्म संबंधी व्रतों में से जो कोई व्रत खंडित हुआ हो अथवा जो कोई इनकी विराधना हुई हो तत्संबंधित मेरा पाप भी मिथ्या हो निष्फल हो।

चउण्हं कसायाणं - चार कषायों के द्वारा।

पंचण्हं अणुव्वयाणं - पांच अणुव्रतों का।

तिण्हं गुणव्वयाणं - तीन गुणव्रतों का।

चउण्हं सिक्खावयाणं - चार शिक्षाव्रतों का।

बारस विहस्स - बारह प्रकार के।

सावगधम्मस्स - श्रावक धर्म।

जं खंडिअं - जो खंडित हुआ हो।

जं विराहिअं - जो विराधित हुआ हो।

तस्स - तत्संबंधी।

मिच्छा - मिथ्या हो।

मि दुक्कडं - मेरा दुष्कृत।



## \* पुक्खरवरदीवङ्गे सूत्र \*

पुक्खरवर-दीवङ्गे, धायइसंडे अ जंबुदीवे अ।

भरहेरवय-विदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥1॥

तम-तिमिर-पडल-विद्धं सणस्स सुरगण-नरिंदमहियस्स।

सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिय-मोहजालस्स ॥2॥

जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स, कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स।

को देव-दाणव-नरिंद-गणच्चियस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥3॥

सिद्धे भो! पयओणमो जिणमए नंदी सया संजमे, देवं-नाग-सुवन्न-किन्नर-गण-स्सबभूअ-भावच्चिए।

लोगो जत्थ पड्ठिओ जगमिणं तेल्लुकक-मच्चासुरं, धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मत्तरं वड्ढउ ॥4॥

### शब्दार्थ



पुक्खरवर-दीवङ्गे :- अर्द्धपुष्कर वर द्वीप में।

धायइसंडे अ :- तथा घातकी खंड में।

जंबुदीवे अ - और जम्बुद्वीप में।

भरहेरवय-विदेहे :- भरत, ऐश्वर्य और महा-विदेह क्षेत्रों में

धम्माइगरे :- धर्म की  
आदि करने वाले  
तीर्थंकरों को।

नमं सामि :- मैं  
नमस्कार करता हूं।

तम-तिमिर-पडल-विद्धसणस्स :- अज्ञान-रूपी अधंकार  
के समूह का नाश करने वालों  
को

सुरगण-नरिंद-महियस्स :-  
देव समूह तथा राजाओं के  
समूह से पूजित।

सीमाधरस्स :- सीमा धारण  
करने वाले को, मर्यादायुक्त।



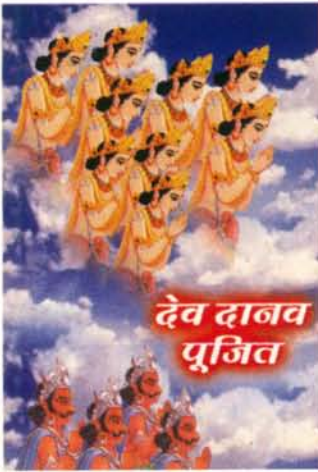
वंदे :- मैं वंदन करता हूं।



पप्फोडिय-मोहजालस्स -  
मोहजाल को सर्वथा तोड़ने  
वाले को।

जाई-जरा-मरण-सोग-  
पणासणस्स :- जन्म,  
वृद्धावस्था, मृत्यु तथा शोक

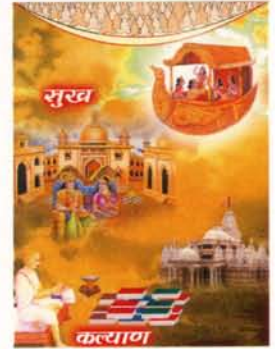
को नाश करने वालों को



कल्लाण-पुक्खल-  
विसाल सुहावस्स :- कल्याण कारक  
तथा अत्यंत विशाल सुख को अर्थात् मोक्ष देने  
वालों को।

को :- कौन,  
कौन सचेतन  
प्राणी।

देव-दानव-  
नरिंद-गणच्चियस्स :- देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों तथा  
चक्रवर्तियों के समूह से पूजितों को।



धम्मस्स :- धर्म का, श्रुत धर्म का।

सारं :- सार को।

उवलब्भ :- प्राप्त करके

करे :- करे। पमायं :- प्रमाद।

सिद्धे :- सिद्ध। भो :- हे भव्य जीवो।

पयओ :- प्रयत्नपूर्वक, आदरपूर्वक।

णमो :- मैं नमस्कार करता हूं।

जिणमए :- जिनमत को, जैन दर्शन को।

नंदी :- वृद्धि।

सया :- सदा।

संजमे :- संयम में, चारित्र में।

देव-नाग-सुवन्न-किन्नर-गणस्सब्भूअभावच्चिए :- देव, नागकुमारों, सुपर्णकुमारों,







किन्नरों आदि से सच्चे  
भाव पूर्वक पूजित।

लोगो :- लोक, सकल  
पदार्थों।

जत्थ :- जहां।

पइष्टिओ :- प्रतिष्ठित है,  
वर्णित है।

जगमिणं :- यह जगत।

तेलुककमच्चासुरं :- तीनों



लोक के मनुष्य तथा असुरादिक

तीन लोक के आधार रूप।

धम्मो :- धर्म

वड्ढओ :- वृद्धि को प्राप्त हो।

सासओ :- शाश्वत

विजयओ :- विजय से।

धम्मुत्तरं :- धर्मोत्तर, चारित्रधर्म। वड्ढउ :- वृद्धि को प्राप्त हो।

सुअस्सभगवओ :- श्रुतभगवान की (आराधना के निमित्त)

करेमि काउसगं :- कायोत्सर्ग करता हूं।

भावार्थ : अर्द्धपुष्कर द्वीप में, घातकी खंड में, और जम्बुद्वीप में (कुल मिलकर ढाईद्वीप में) आये हुए भरत, ऐरवत तथा महाविदेह क्षेत्रों में श्रुतधर्म की आदि करने वाले तीर्थकरों को मैं नमस्कार करता हूं।<sup>1</sup>

अज्ञान रूपी अंधकार के समूह का नाश करने वाले, देव समूह तथा राजाओं से पूजित, एवं मोह जाल को सर्वथा (बिल्कुल) तोड़ने वाले, मर्यादा को धारण करने वाले श्रुतधर्म को मैं वंदन करता हूं।<sup>2</sup>

जन्म, जरा-वृद्धावस्था, मृत्यु तथा शोक को नाश करने वाला, कल्याणकारक तथा अत्यंत विशाल सुख रूप जो मोक्ष है उसको देने वाला, देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रों के समूह से पूजित ऐसे श्रुतधर्म के सार रहस्य को पाकर कौन बुद्धिमान प्राणी धर्म की आराधना में प्रमाद करें? अर्थात् कोई भी प्रमाद न करे।<sup>3</sup>

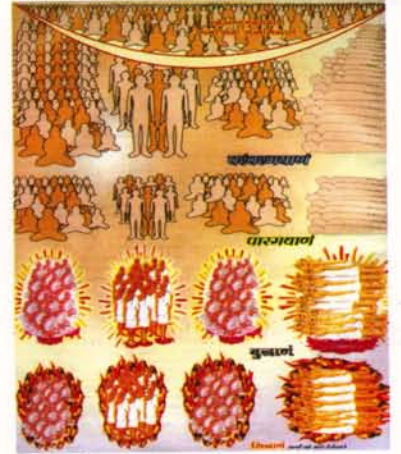
हे ज्ञानवान भव्य जीवो! नय प्रमाण से सिद्ध ऐसे जैनदर्शन को मैं आदरपूर्वक नमस्कार करता हूं। जिनका बहुमान किन्नरों, नागकुमारों, सुवर्णकुमारों, और देवों तक ने भक्ति पूर्वक किया है, ऐसे संयम की वृद्धि जिनकथित सिद्धांत से ही होती है। सब प्रकार का ज्ञान भी जिनोक्त सिद्धान्त में ही निःसंदेह रीति से वर्तमान है। जगत के मनुष्य, असुर आदि सब प्राणीमात्र आदि सकल पदार्थ-जिनोक्त सिद्धान्त में ही युक्त प्रमाण पूर्वक वर्णित है। यह शाश्वत सिद्धान्त उन्नत होकर एकान्तवाद पर विजय प्राप्त करे और इसमें चारित्रधर्म की भी वृद्धि हो। पूज्य अथवा पवित्र ऐसे श्रुतधर्म के वंदन आदि के निमित्त मैं काउस्सग करता हूं।

## \* सिद्धाण बुद्धाणं (सिद्धस्तव) \*

सिद्धाणं बुद्धाणं, पार-गयाणं परंपर-गयाणं।  
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्व-सिद्धाणं ॥1॥  
जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति।  
तं देवदेव-महियं, सिरसा वंदे महावीरं ॥2॥  
इक्को वि नमुक्कारो, जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स।  
संसार-सागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥3॥  
उज्जिंतसेल-सिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।  
तं धम्म-चक्कवट्ठि, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥4॥  
चत्तारि अट्ठ दस दो अ, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं।  
परमट्ठ-निट्ठिअट्ठ, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥5॥

### शब्दार्थ

सिद्धाणं - सिद्धों के लिए, सिद्धि पद पाने वालों के लिए  
बुद्धाणं - सर्वज्ञों के लिए।  
पार-गयाणं - संसार को पार करने वालों के लिए।  
परंपर-गयाणं - गुणस्थानों के अनुक्रम से मोक्ष  
पाये हुआओं के लिए  
लोअग्गमुवगयाणं - लोके अग्रभाग पर गये हुआओं के लिए।  
नमो - नमस्कार हो  
सया - सदा।



सव्व-सिद्धाणं - सब  
सिद्ध भगवंतों को।  
जो - जो। देवाण - देवों के।  
वी - भी। देवो - देव।  
जं - जिनको।  
देवा- देव।  
पंजली - अंजलीपूर्वक, हाथ जोड़कर।  
नमंसंति - नमस्कार करते हैं।



तं - उनको।

देवदेव-महिअं - इन्द्रों द्वारा पूजित को।

सिरसा - मस्तक झुकाकर।



वंदे - मैं वन्दन करता हूं।

महावीरं - श्री महावीर स्वामी को।

इक्को - एक।

वि - भी।

नमुक्कारो - नमस्कार।

जिणवर-वसहस्स - जिनेश्वरों में उत्तम।

वद्धमानस्स - श्री वर्द्धमान स्वामी को।

संसार-सागराओ - संसार रूपी सागर से।

तारेइ - तिरा देता है।

नरं - पुरुषों को।

व - अथवा।

नारिं - नारियों को।

वा - अथवा।

उज्जितसेल-सिहरे - गिरनार पर्वत के शिखर पर।

दिक्खा - दीक्षा।

नाणं - केवलज्ञान।

निसीहिआ - निर्वाण।

जस्स - जिनका।

तं - उन।

धम्म-चक्कवट्ठि - धर्मचक्रवर्ती।

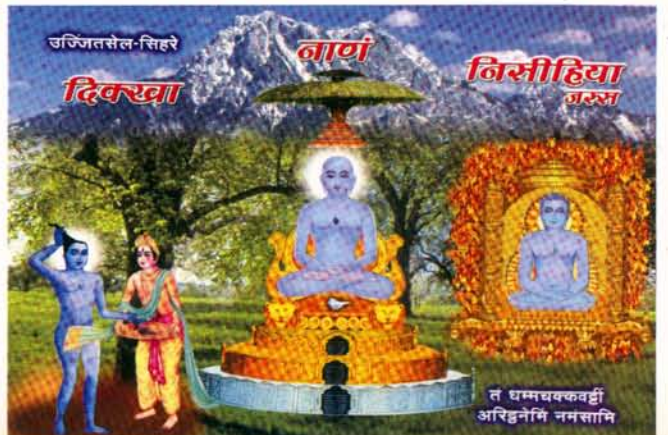
अरिद्धनेमिं - श्री अरिष्टनेमि भगवान के लिए।

नमंसांमि - मैं नमस्कार करता हूं।

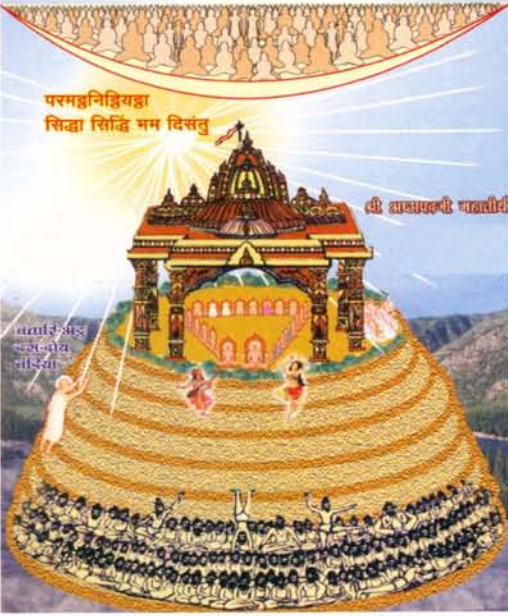
चत्तारि - चार।

अट्ठ - आठ।

दस - दस।







दो - दो।

वंदिया - वंदन किये हुए।

जिनवरा - जिनेश्वर।

चउव्वीसं - चौबीसों।

परमद्व-निद्धिअञ्ज - परमार्थ से कृत कृत्य, मोक्षसुख को प्राप्त किये हुए।

सिद्धा - सिद्ध।

सिद्धि - सिद्धि

मम - मुझे।

दिसंतु - प्रदान करें।

भावार्थ : जिन्होंने सर्वकार्य सिद्ध किये हैं, तथा सर्वभाव जाने हैं ऐसे सर्वज्ञ, संसार समुद्र को पार पाये हुए, गुणस्थानों के अनुक्रम से मोक्ष पाये हुए तथ जो लोक के अग्रभाग पर

विराजमान हैं उन सब सिद्ध परमात्माओं को मेरा निरंतर नमस्कार हो ॥1॥ जो देवों के भी देव हैं, जिनकों देव दोनों हाथ जोड़कर अंजलिपूर्वक नमस्कार करते हैं तथा जो इन्द्रों से भी पूजित हैं, उन श्री महावीर स्वामी को मैं मस्तक झुका कर वंदन करता हूं ॥2॥ श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी तथा मनः पर्यवज्ञानी आदि जो जिन है उनसे भी प्रधान सामान्य केवलज्ञानी जिन हैं ऐसे सामान्य केवलियों से भी श्रेष्ठ तीर्थंकर पदवी को पाये हुए श्री वर्धमान स्वामी को शुद्ध भावों से किया हुआ नमस्कार पुरुषों अथवा स्त्रियों को संसार रूपी समुद्र से तार देता है ॥3॥ जिन के दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण गिरनार-पर्वत के शिखर पर हुए हैं, उन धर्मचक्रवर्ती श्री अरिष्टनेमि भगवान के लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥4॥ चार, आठ, दस और दो ऐसे क्रम से वंदन किये हुए चौबीसों जिनेश्वर तथा जो मोक्ष सुख को प्राप्त किये हुए हैं, ऐसे सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें ॥5॥

### \* वेयावच्चगराणं सूत्र \*

वेयावच्चगराणं, संतिगराणं, सम्मद्दिद्धि-समाहिगराणं करेमि काउस्सगं।

शब्दार्थ

वेयावच्चगराणं - वैयावृत्य करने वाले, सेवा सुश्रूषा करने वाले को समाधि पहुंचाने वाले देवों की आराधना करने के लिए

संतिगराणं - शांति करने वाले

सम्मद्दिद्धि-समाहिगराणं - सम्यग्दृष्टि-जीवों

करेमि काउस्सगं - मैं कायोत्सर्ग करता हूं।

भावार्थ : श्री जिनशासन की वैयावृत्य-सेवा सुश्रूषा करने वालों, उपद्रवों अथवा उपसर्गों की शांति करने



वालों, सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि पहुंचाने वालों (ऐसे देवों की आराधना) के निमित्त मैं कायोत्सर्ग करता हूं।

### \* सुगुरु वंदन सूत्र \*



इच्छाम खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए, निसीहिआए ॥ अणुजाणह मे मिउग्गहं ॥

निसीहि अहोकायं, काय-संफासं खमणिज्जो भे! किलामो, अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे! दिवसो वइक्कंतो? जत्ता भे? जवणिज्जं च भे? खामेमि खमासमणो! देवसिअं वइक्कमं। आवस्सिआए पडिक्कमामि।

ख मा स म ण ा णं दे व सि आ ए  
आसायणाए, तित्तीसन्नयराए, जं किंचि  
मिच्छाए, मण-दुक्कडाए वय-  
दुक्कडाए काय-दुक्कडाए, कोहाए

माणए मायाए लोभाए, सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए,  
सव्वधम्मइक्कमणाए, आसायणाए, जो मे अइयारो कओ, तस्स  
खमासमणो! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं बोसिरामि॥

### शब्दार्थ

इच्छामि - मैं चाहता हूं।

खमासमणो - हे क्षमाश्रमण गुरुदेव।

वंदिउं - वन्दन करना।

जावणिज्जाए - अपनी शक्ति के अनुसार।

निसीहिआए - अन्य सब प्रकार के कार्यों को छोड़कर।

अणुजाणह - आज्ञा प्रदान करो।

मे - मुझे।

मिउग्गहं - परिमित अवग्रह में आने के लिए, मर्यादित

भूमि में प्रवेश करने के लिए

निसीहि - अशुभ व्यापारों के त्यागपूर्वक।

अहोकायं - आपके चरणों को।

काय-संफासं - मैं उत्तमांग (मस्तक) से स्पर्श करता हूं।

खमणिज्जो - क्षमा करें।

भे - आप।

किलामों - खेद।

अप्पकिलंताणं - अल्प ग्लानि वाले आपका।

बहुसुभेण - बहुत शुभ भाव से।

भे - आपका।

दिवसो - दिन।

वइक्कंतो - बीता, व्यतीत हुआ।

जत्ता - यात्रा, संयम यात्रा।

भे - आपकी।

जवणिज्जं - मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित।

च भे - और आपका।

खामेमि - खमाता हूं, क्षमा मांगता हूं।

खमासमणो - हे क्षमाश्रमण।

देवसिअं - दिन में किये हुए।

वइक्कमं - व्यतिक्रम, अपराध की।

आवस्सिआए - आवश्यक क्रिया के अतिचारों का।

पडिक्कमामि - प्रतिक्रमण करता हू।

खमासमणाणं - आप क्षमाश्रमण की।

देवसिआए - दिवस संबंधी।

आसायणाए - आशातना।

तित्तीसन्नयराए - तेत्तीस में से किसी भी।

जं किंचि - जो कोई।

मिच्छाए - मिथ्याभाव से की हुई।

मण-दुक्कडाए - मन के दुष्कृत वाली।

वय-दुक्कडाए - वचन के दुष्कृत द्वारा।

काय - दुक्कडाए - काय के दृष्कृत द्वारा।

कोहाए - क्रोध से हुई।

माणाए - मान से हुई।



मायाए - माया से हुई।

लोभाए - लोभ से हुई।

सव्वकालिआए - सब काल संबंधी।

सव्वमिच्छोवयाराए - सब प्रकार के मिथ्या उपचारों से।

सव्वधम्माइक्कमणाएं - सब प्रकार के धर्म का उल्लंघन करने से।

आसायणाए - आशातना

जो मे - जो मुझसे।

अइयारो - अतिचार।

कओ - किया हो, हुआ हो।

तस्स - तत् संबंधी

खमासमणो - हे क्षमाश्रमण।

पडिक्कमामि - प्रतिक्रमण करता हूं।

निंदामि - निंदा करता हूं।

गरिहामि - गुरु के समक्ष निंदा करता हूं।

अप्पाणं - अशुभ योग में प्रवृत्त अपनी आत्मा को।

वोसिरामि - छोड़ देता हूं, त्याग करता हूं।

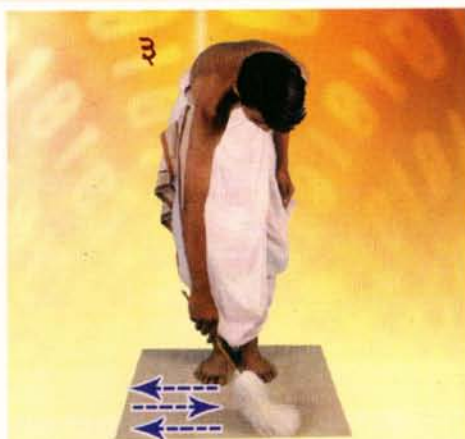
**भावार्थ :** (शिष्य कहता है) हे महाश्रमण गुरुदेव! मैं अन्य सब प्रकार के कार्यों से निवृत्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार वंदन करना चाहता हूं? मुझे परिमित अवग्रह (साढ़े तीन हाथ समीप आने) की आज्ञा दीजिये। सब अशुभ व्यापारों के त्यागपूर्वक आपके चरणों को अपने मस्तक से स्पर्श करता हूं। इससे आपको जो कोई खेद कष्ट हुआ हो उसकी मुझे क्षमा प्रदान करें। आप का दिन शुभ भाव से सुख पूर्वक व्यतीत हुआ है? हे पूज्य! आपका तप नियम, संयम और स्वाध्याय रूप यात्रा निराबाध चल रहे हैं? आपका शरीर, इन्द्रियां तथा नोइन्द्रिय (मन) कषाय आदि उपघात पीड़ा रहित हैं? हे गुरुमहाराज! सारे दिन में जो कोई मैंने अपराध किया हो उसकी मैं क्षमा मांगता हूं। आवश्यक क्रिया के लिये अब मैं अवग्रह से बाहर आता हूं। दिन में आप क्षमाश्रमण की तेतीस आशातनाओं में से कोई भी आशातना की हो उसकी मैं क्षमा मांगता हूं। और जो कोई अतिचार मिथ्याभाव के कारण हुई आशातना से हुआ हो, मन, वचन, काया की दुष्ट प्रवृत्ति से हुई आशातना से हुआ हो, क्रोध मान, माया लोभ की प्रवृत्ति से हुआ हो अथवा सर्वकाल संबंधी, सर्व प्रकार के मिथ्या उपचारों से अर्थात् कूट कपट से, अष्ट प्रवचन माता रूप सर्वधर्म कार्य के अतिक्रमण के कारण हुई आशातना से हुआ हो, उनसे हे क्षमाश्रमण! आपके समीप मैं प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मा की साक्षी से निंदा करता हूं, तथा आपकी साक्षी में मैं उसकी गद्दी करता हूं एवं ऐसी पापमय मेरी आत्मा को मैं वोसीराता हूं-त्याग करता हूं।



१. 'इच्छामि खमासमणो'  
बोलते-सुनते  
समय की मुद्रा ।



२. 'वंदिडं' बोलते-सुनते  
समय थोड़ा सा नीचे झुकें ।



३. 'निसीहि' बोलते समय गुरु के अवग्रह में प्रवेश  
करने के लिए जमीन/कटासणा पर बाएँ से  
दाहिने तीन बार क्रमशः प्रमार्जना करनी चाहिए ।



४. गुरु के अवग्रह में  
प्रवेश करते  
समय की मुद्रा ।



५. प्रवेश कर नीचे बैठने से पहले  
खमासमण के समान पैर के आगे-पीछे  
तीन-तीन बार प्रमार्जना करनी चाहिए ।



६. प्रमार्जना करके बैठते समय  
किसी का भी सहारा लिए  
बिना बैठना चाहिए ।



यथाज्ञात मुद्रा में बैठने के बाद  
खमासमण की भांति मुख तथा दोनों हाथों की  
प्रमार्जना (मुहपत्ति से ) कर मुहपत्ति को  
चरवले पर स्थापन करने से पहले  
क्रमशः तीन बार प्रमार्जना करनी चाहिए ।

गुरुचरण पादुका की संकल्पना पूर्वक  
मुहपत्ति की चरवला पर स्थापना करनी ।







१ 'अ', 'का', 'का' तथा 'ज', 'ज्ज' बोलते समय दोनों हाथों की दसों ऊँगलियों से (नाखून का स्पर्श न हो, इस प्रकार) चरवले पर स्थापित मुँहपत्ति को स्पर्श करनी चाहिए।



१० नीचे से ऊपर की ओर हथेली फिराते समय बीच में कहीं भी अलग नहीं होना चाहिए।



११ 'त्ता', 'व' और 'च' बोलते समय मुँहपत्ति को पूंठ न लगे, उस तरह मध्यस्थान पर हथेली को एकत्रित करनी चाहिए।



१२ 'हो', 'यं', 'य' तथा 'भे', 'णि', 'भे' बोलते समय दोनों हाथों की दसों ऊँगलियों से (नाखून का स्पर्श न हो, इस प्रकार) कपाल प्रदेश पर स्पर्श करना चाहिए।



१३ 'संफासं' तथा 'खामेमि' बोलते हुए शीर्षनमन करते समय दोनों हाथों की खुली (अंजलि जैसी) हथेली हल्के से मुँहपत्ति पर स्पर्श करके मस्तक हथेली में रखना चाहिए।



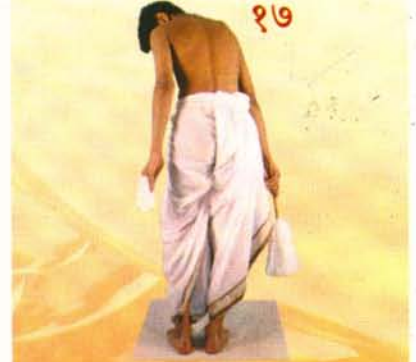
१४ मस्तक हथेली पर स्पर्श करे, उस समय पीछे से थोड़ा भी ऊँचा नहीं होना चाहिए। (त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए)



१५ 'आवस्सियाए' बोलते समय पहले पीछे की ओर दृष्टि से पडिलेहणा कर, उसके बाद तीन बार बाएँ से दाहिने क्रमशः प्रमार्जना करनी चाहिए।



१६ पहली वांदणा में तथा दूसरी वांदणा के अन्त में गुरु के अवग्रह से बाहर निकलते समय की मुद्रा।



१७ अवग्रह से बाहर निकलते समय की योगमुद्रा के समान दोनों पैरों के बीच में अन्तर रखना चाहिए। दूसरी वांदणा में ऐसा कोई नियम नहीं है।

**\* स्थानकवासी परंपरा के अनुसार \***

**\* इच्छामि खमासमणो का पाठ \***

इच्छामि

खमासमणो

वंदिउं

जावणिज्जाए

निसीहियाए

अणुजाणह मे

मिउग्गहं

निसीहि

अहो कायं

काय-संफासं

खमणिज्जो भे किलामो

अप्पकिलंताणं

बहुसुभेणं

भे! दिवसो वइक्कंतो?

जत्ता भे?

जवणिज्जं च भे

खामेमि खमासमणो

देवसियं वइक्कमं

आवस्सियाए पडिक्कमामि

खमासमणाणं

देवसिआए

आसायणाए तित्तिसन्नयराए

जं किंचि मिच्छाए

चाहता हूं।

हे क्षमाश्रमण!

वंदना करना।

शक्ति के अनुसार।

शरीर को पाप क्रिया से हटा करके।

आप मुझे आज्ञा दीजिए।

मितावग्रह (परिमित यानी चारों ओर साढ़े तीन हाथ भूमि) में प्रवेश करने की आज्ञा पाकर शिष्य बोले कि हे गुरुदेव! मैं।

समस्त सावद्य व्यापारों को मन, वचन, काया से रोक कर।

आपकी अधोकाया (चरणों) को।

मेरी काया (हाथ और मस्तक) से स्पर्श करता हूं (छूता हूं)।

इससे आपको मेरे द्वारा अगर कष्ट पहुंचा हो तो उस कष्ट प्रदाता को अर्थात् मुझे क्षमा करें।

हे गुरु महाराज! अल्प ग्लान अवस्था में रहकर।

बहुत शुभ क्रियाओं से सुख शान्ति पूर्वक।

आपका दिवस बीता है न?

आपकी संयम रूप यात्रा निराबाध है न?

आपका शरीर, इन्द्रिय और मन की पीड़ा (बाधा) से रहित है न।

हे क्षमाश्रमण! क्षमा चाहता हूं।

जो दिवस भर में अतिचार (अपराध) हो गए हैं उसके लिए।

आपकी आज्ञा रूप आवश्यक क्रियाओं के आराधन में दोषों से निवृत्ति (बचने का प्रयत्न) रूप प्रतिक्रमण करता हूं।

आप क्षमावान श्रमणों की।

दिवस संबंधी आशातना की हो।

तैंतीस आशातनाओं में से कोई भी आशातना का सेवन किया हो।

जिस किसी भी मिथ्या भाव से किया हो (चाहे वह)।



मणदुक्कडाए  
 वयदुक्कडाए  
 कायदुक्कडाए  
 कोहाए माणाए मायाए लोहाए  
 सव्वकालियाए  
 सव्व मिच्छोवयाराए  
 सव्व धम्माइक्कमणाए  
 आसायणाए  
 जो मे देवसिओ  
 अइयारो कओ  
 तस्स खमासमणो  
 पडिक्कमामि  
 निंदामि  
 गरिहामि  
 अप्पाणं वोसिरामि

मन के अशुभ परिणाम से।  
 दुर्वचन से।  
 शरीर की दुष्ट चेष्टा से।  
 क्रोध, मान, माया, लोभ से।  
 सर्वकाल (भूत, वर्तमान, भविष्य) में।  
 सर्वथा मिथ्योपचार से पूर्ण।  
 सकल धर्मों का उल्लंघन करने वाली  
 आशातनाओं का सेवन किया या हुआ।  
 (अर्थात्) जो मैंने दिवस संबंधी।  
 अतिचार (अपराध) किया।  
 उसका हे क्षमाश्रमण!  
 प्रतिक्रमण करता हूं।  
 आत्म साक्षी से निंदा करता हूं।  
 आपकी (गुरु की) साक्षी से गर्हा करता हूं।  
 (व) दूषित आत्मा को त्यागता हूं।

#### \* तस्स सव्वस्स का पाठ \*

तस्स सव्वस्स देवसियस्स  
 अइयारस्स  
 दुब्भासिय-दुच्चिन्तिय-दुच्चिद्वियस्स  
 आलोयंतो पडिक्कमामि

उन सब दिन संबंधी।  
 अतिचारों का जो।  
 दुर्वचन व बुरे चिंतन से। तथा कायिक कुचेष्टा से किये गये हैं।  
 उन अतिचारों की आलोचना करता हुआ उनसे निवृत्त होता हूं।

#### \* बड़ी संलेखना \*

अह भंते!  
 अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा  
 झूसणा  
 आराहणा  
 पौषधशाला  
 पडिलेहिय

इसके बाद हे भगवान!  
 सबके पश्चात् मृत्यु के समीप होने वाली संलेखना अर्थात् जिसमें शरीर,  
 कषाय, ममत्व आदि कृश (दुर्बल) किये जाते हैं, ऐसे तप विशेष के।  
 संलेखना का सेवन करना।  
 संलेखना की आराधना।  
 धर्मस्थान अर्थात् पौषधशाला।  
 प्रतिलेखन कर।

पमज्जिय

उच्चार-पासवण-भूमि

पडिलेह के

गमणागमणे

पडिक्कम के

दर्भादिक संधारा

संधार कर

दुरूह कर

करयल-संपरिगगहियं

सिरसावत्तं

बार्यी

मत्थए अंजलि-कट्टु

एवं वयासी

निःशल्य

अकरणिज्जं

जं पि यं इमं सरीरं

इट्ठं

कंतं

पियं

मणुण्णं

मणाणं

धिज्जं

विसासियं

सम्मयं

अणुमयं

बहुमयं

भण्ड-करणडगसमाणं

रयण-करणडगभूयं

पूँजकर।

मलमूत्र त्यागने की भूमि का।

पडिलेहन अर्थात् देखकर के।

जाने आने की क्रिया का।

प्रतिक्रमण कर।

डाभ (तृण, घास) का संधारा।

बिछाके।

संधारे पर आरूढ़ होकर के।

दोनों हाथ जोड़कर।

मस्तक से आवर्तन (मस्तक पर जोड़े हुए हाथों को तीन बार अपनी

ओर से घुमा) करके।

मस्तक पर हाथ जोड़कर।

इस प्रकार बोले।

माया, मिथ्यादर्शन और निदान (नियाणा) इन तीन शल्यों से रहित।

नहीं करने योग्य।

और जो भी यह शरीर।

इष्ट।

कान्तियुक्त।

प्रिय, प्यारा।

मनोज्ञ, मनोहर।

मन के अनुकूल।

धैर्यशाली। धारण करने योग्य।

विश्वास करने योग्य।

मानने योग्य। सम्मत।

विशेष सम्मान को प्राप्त।

बहुमत (बहुत माननीय) जो देह।

आभूषण के करण्डक (करण्डिया डिब्बा) के समान।

रत्नों के करण्डक के समान जिसे।



मा णं सीयं  
 मा णं उण्हं  
 मा णं खुहा  
 मा णं पिवासा  
 मा णं वाला  
 मा णं चोरा  
 मा णं दंसमसगा  
 वाइयं  
 पित्तियं  
 कफ्फियं  
 संभीमं  
 सण्णिवाइयं  
 विविहा  
 रोगायंका  
 परीसहा  
 उवसग्गा  
 फासा फुसंतु  
 एवं पिय णं  
 चरमेहिं  
 उस्सास-णिस्सासेहिं  
 वोसिरामि  
 त्ति कट्टु  
 कालं अणवकंखमाणे  
 विहरामि  
 इहलोगासंसप्पओगे  
 परलोगासंसप्पओगे  
 जीवियासंसप्पओगे

शीत (सर्दी) न लगे।  
 उष्णता (गर्मी) न लगे।  
 भूख न लगे।  
 प्यास न लगे।  
 सर्प न काटे।  
 चोरों का भय न हो।  
 डांस व मच्छर न सतावें।  
 वात।  
 पित्त।  
 कफरूप त्रिदोष।  
 भयंकर।  
 सन्निपात रोग न हो।  
 अनेक प्रकार के।  
 रोग (संबंधी पीड़ाएं) और आतंक न आवे।  
 क्षुधा आदि परीषह।  
 उपसर्ग। देव, तिर्यच आदि द्वारा दिये गये कष्ट।  
 स्पर्श न करें ऐसा माना किन्तु अब।  
 इस प्रकार के प्यारे देह को।  
 अन्तिम।  
 उच्छवास, निःश्वास तक।  
 त्याग करता हूं।  
 ऐसा करके।  
 काल की आकांक्षा (इच्छा) नहीं करता हुआ।  
 विहार करता हूं, विचरता हूं।  
 इस लोक में राजा चक्रवर्ती आदि के सुख की कामना करना।  
 परलोक में देवता इन्द्र आदि के सुख की कामना करना।  
 महिमा प्रशंसा फैलने पर बहुत काल तक जीवित रहने की आकांक्षा करना।

मरणासंसप्पओगे  
कामभोगासंसप्पओगे

कष्ट होने पर शीघ्र मरने की इच्छा करना।  
कामभोग की अभिलाषा करना।

**\* तस्स धम्मस्स \***

तस्स धम्मस्स  
केवलिपण्णत्तस्स  
अब्भुट्ठिओमि  
आराहणाए  
विरओमि  
विराहणाए  
तिविहेणं  
पडिक्कंतो  
वंदामि  
जिण-चउव्वीसं

उस धर्म की जो।  
केवली भाषित है उस ओर।  
उद्यत हुआ हूं।  
आराधना करने के लिए।  
विरत (अलग) होता हूं।  
विराधना से।  
मन, वचन, काया द्वारा।  
निवृत्त होता हुआ।  
वन्दना करता हूं।  
चौबीस तीर्थकरों को।

**\* आयरिय उवज्झाए का पाठ \***

आयरिय  
उवज्झाए  
सीसे  
साहम्मिए  
कुल  
गणे य  
जे  
मे  
केई  
कसाया  
सव्वे  
तिविहेणं  
खामेमि  
सव्वस्स

आचार्य महाराज।  
उपाध्याय महाराज।  
शिष्य।  
साधर्मिक।  
एक आचार्य का शिष्य समुदाय।  
गण समूह पर।  
जो।  
मैंने।  
कुछ।  
क्रोध आदि कषाय किया हो तो।  
सबको।  
तीन योग (मन, वचन, काया) से।  
खमाता हूं। क्षमा चाहता हूं।  
(इसी प्रकार) सभी।



समण-संघस्स

भगवओ

अंजलि करिअ

सीसे

सव्वं

खमावइत्ता

खमामि

सव्वस्स

अहयंपि

सव्वस्स

जीव-रासिस्स

भावओ

धम्मं निहिय-नियचित्तो

सव्वं

खमावइत्ता

खमामि

श्रमण-संघ-साधु समुदाय (चतु-र्विधसंघ)

भगवान को।

दोनों हाथ जोड़ करके।

शीश पर लगा कर।

सबको।

खमा करके।

खमता हूं, क्षमा करता हूं।

सबको।

मैं भी।

सभी।

जीव राशि से।

भाव से।

धर्म में चित्त को स्थिर करके।

सबको।

खमा करके।

खमता हूं, क्षमा करता हूं।

**\* खामेमि सव्वे जीवा-क्षमापना पाठ \***

खामेमि

सव्व

जीवे

सव्वे जीवा

खमंतु

मे

मिप्पि

मे

सव्व भूएसु

वेरं

मज्झं

क्षमा चाहता हूं।

सब

जीव

सब जीवों को

क्षमा करो।

मुझको।

मित्रता है।

मेरी।

सभी प्राणियों से।

शत्रुता।

मेरी।

न	नहीं।
केणइ	किसी के साथ।
एवमहं (एवं अहं)	इस प्रकार मैं।
आलोइय	आलोचना करके।
निंदिय	आत्म साक्षी से निंदा करके।
गरिहिय	गुरु साक्षी से गर्हा करके।
दुगुंछिय	जुगुप्सा (ग्लानि-घृणा) करके।
सम्मं	सम्यक् प्रकार से।
तिविहेणं	मन, वचन, काया द्वारा।
पडिककंतो	पापों से निवृत्त होता हुआ।
वंदामि	वंदना करता हूं।
जिण-चउव्वीसं	24 अरिहंत भगवान को।

#### \* समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ \*

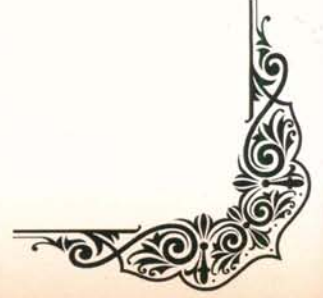
गंठिसहियं	गांठ सहित यानी जब तक गांठ बंधी रखूं, तब तक।
मुट्ठिसहियं	मुट्ठी सहित अर्थात् जब तक मैं मुट्ठी बन्द रखूं, तब तक।
नमुक्कारसहियं	नमस्कार मंत्र बोल कर सूर्योदय से लेकर एक मुहूर्त (48 मिनट) तक त्याग।
पोरिसियं	एक प्रहर का त्याग।
साट्ठ-पोरिसियं	डेढ़ प्रहर का त्याग।
अन्नत्थणाभोगेणं	निम्न आगारों को छोड़कर बिना उपयोग के कोई वस्तु सेवन की हो।
(अन्नत्थ अणाभोगेणं)	
सहससागारेणं	अकस्मात् जैसे पानी बरसता हो और मुख में छींटे पड़ जाये, या छाछ बिलोते समय मुंह में छींटे पड़ जाये।
महत्तरागारेणं	महापुरुषों की आज्ञा से अर्थात् गुरुजन के निमित्त से त्याग का भंग करना पड़े।
सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं	सब प्रकार की शारीरिक, मानसिक निरोगता रहे तब तक अर्थात् शरीर में भयंकर रोग हो जाये तो दवाई आदि का आगार है।
वोसिरामि	त्याग करता हूं।





# \* महापुरुषों की जीवन कथाएँ \*

- \* आ. श्री हरिभद्रसूरि
- \* साध्वी सुनंदा
- \* परमार्हत महाराजा कुमारपाल
- \* अंजना सती



## \* आचार्य श्री हरिभद्रसूरि \*

महान ग्रंथकार एवं महाप्रभावक आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में विपुल साहित्य सर्जन किया। प्रकांड विद्वता, अपूर्व ज्ञानप्रतिमा, व्यापक समभाव, निष्पक्ष विवेचनशक्ति और विरल भाषाप्रभुत्व के कारण उनका समग्र भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उनके द्वारा रचे हुए 1444 ग्रंथ जिनशासन का अनुपम ज्ञान वैभव है। वे आगमिक साहित्य के सर्वप्रथम टीकाकार थे और अपने ग्रंथों द्वारा उन्होंने योग के विषय में नई पगडंडी को आकारित किया है।

वे चित्तौड के राजा जितारि के पुरोहित थे। वेदशास्त्र और दर्शनशास्त्र इत्यादि के जानकार ऐसे 14 विद्या के पारगामी थे। उस समय भारतवर्ष में वाद - विवाद में उन्हें पराजित करनेवाला कोई नहीं था। विद्या का घमंड इतना कि लोगों में ऐसा कहा जाता कि यह पंडित पेट में सोने का पट्टा, हाथ में कुदाली, बंगल में जाल और कंधे पर निसैनी रखकर स्थान - स्थान पर भ्रमण करते थे और खुले आम चुनौती देते थे। प्रचंड ज्ञान के अफरे से पेट फूलकर फट न जाय इसलिए पेट पर सोने का पट्टा बांधते थे। उन्हें जीतने की इच्छा रखनेवाला कोई वादि यदि धरतीपट छोड़कर धरती के भीतर घुस गया होगा, तो कुदाली से धरती खोदकर मैं उसे बाहर निकालकर पराजित करूँगा। सागर के भीतरी भाग में छिपा होगा, तो इस जाल से मछली की तरह बाहर खींच निकालूँगा। यदि वह आकाश में चढ़ गया होगा तो उसे निसैनी से पकड़कर पराजित करके धाराशायी कर दूँगा। कलयुग में स्वयं को सर्वज्ञ मानने वाले पंडित हरिभद्र ने प्रतिज्ञा की थी कि इस धरती पर ऐसा कोई ज्ञानी हो कि जिसके वचन मेरे जैसा सर्वशास्त्रज्ञ समझ न पाये, तो मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक समय जैन धर्म के प्रति द्वेष के कारण हरिभद्र ऐसा कहते थे कि पागल हाथी के पाँव तले कुचलकर मरना अच्छा किंतु जिनमंदिर में कभी भी नहीं जाना चाहिए। उसी हरिभद्र को एक बार उन्मत्त हाथी से स्वयं को बचाने के लिए जिनमंदिर का आश्रय ग्रहण करना पड़ा था। उस समय वीतराग की मूर्ति देखकर उन्होंने मजाक भी किया कि - तेरा शरीर ही मिष्टान्न भोजन की स्पष्ट साक्षी देता है, क्योंकि खोखले स्थान में अग्नि हो तो क्या पेड़ हराभरा रह सकता है ?

एक बार पंडित हरिभद्र पालकी में बैठकर जा रहे थे, तब एक धर्मागार (धर्मस्थान) के निकट से प्रशांत मधुर कंठ में से प्रवाहित गाथा सुनी। पंडित हरिभद्र ने उसका अर्थ निकालने का बहुत प्रयत्न किया, फिर



भी अर्थभेद निकलता नहीं था। चार वेद, तमाम उपनिषद, अठारह पुराण और सर्व विद्या में पारंगत ऐसे उस समय में श्रेष्ठ विद्वान हरिभद्र के ज्ञान का गर्व हिमलाय की तरह गलने लगा।

वे नम्रभाव से गाथा गानेवाली जैन साध्वीजी के पास गये और कहा कि आप इस गाथा का अर्थ समझाईए। साध्वी महत्तरा याकिनी ने कहा कि तुम्हें गाथा का अर्थ समझना हो तो हमारे आचारानुसार कल हमारे गुरुदेव आयेंगे, तब अवश्य पधारिए। वे



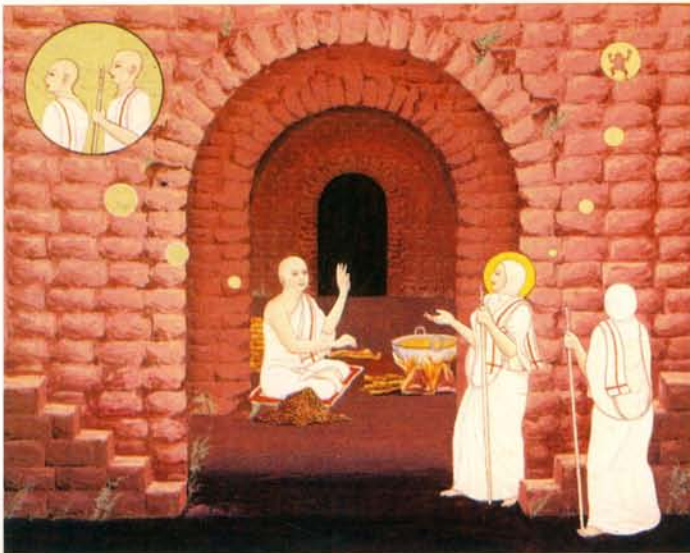
आपको अवश्य ही उसका मर्म समझायेंगे। दूसरे दिन आचार्य जिनदत्तसूरि पधारे और उन्होंने हरिभद्र को इस गाथा का मर्म समझाया। उसी समय हरिभद्र उनके शिष्य बन गये।

दीक्षा काल में उन्होंने जैन आगमों का अभ्यास किया। ज्यों - ज्यों अभ्यास बढ़ता गया, त्यों - त्यों साधु श्री हरिभद्र के अंतर में दिव्यदृष्टि का तेज प्रकट होने लगा। संसार मात्र तारक के रूप में जैन आगमों की उपकारकता उन्हें समझ में आ गई।

समय बीतने के पश्चात् पंडित हरिभद्र आचार्य हरिभद्रसूरि बन गये। वे स्वयं पर अवर्णनीय उपकार करनेवाले तथा ज्ञान आराधना की नई क्षितिजें बतानेवाली साध्वी याकिनी महत्तरा को अपनी माता मानते थे। अब कलिकालसर्वज्ञ जैसे विशेषणों से पहचाना जाना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। जैसे जैसे जैन शास्त्रों का ज्ञान बढ़ता गया, वैसे वैसे समय व्यतीत होते ही वे अपने आपकी अल्पमति के रूप में पहचान करवाते थे और स्वरचित ग्रंथों का समापन वे कृतज्ञतावश साध्वी याकिनी महत्तरा का स्मरण करके अंत में याकिनी महत्तरा धर्मसूनु अर्थात् याकिनी महत्तरा का धर्मपुत्र के रूप में वे अपना परिचय निरूपित करते थे।

आचार्य हरिभद्रसूरिजी के हंस और परमहंस नामक दो शिष्यों की अन्य धर्मियों के हाथों हत्या हो गई। इससे आचार्यश्री का हृदय खलबला उठा। अपने प्रिय शिष्यों की क्रूर हत्या का आघात उनके मन में बदले की आग जगा गया। आचार्यश्री ने बौद्ध विहार में अभ्यास करते 1444 शिक्षार्थी एवं अध्यापकों को उबलते तेल के कड़ाही में जिंदा भून डालने का विचार किया। क्रोध विवेक को भगा देता है। आचार्यश्री के क्रोध का बीजा वैर का वटवृक्ष बन गया। वैर का बदला लेने के लिए आचार्यश्री ने उपाश्रय के द्वार बंद किये। बड़ी भट्टी सुलगाई। उस पर रखी कढ़ाई में तेल डाला और फिर अपने मंत्रबल से उन अध्यापकों एवं विद्यार्थियों को आकर्षित करके आकाश में खड़े रखे। क्रोधायमान आचार्यश्री की इच्छा तो एक के बाद एक विद्यार्थी तथा अध्यापक को मंत्रशक्ति से बुलाकर जीवित ही उबलते तेल की कढ़ाई में डालने की थी।

आचार्यश्री के वैर की बात की जानकारी साध्वी याकिनी महत्तरा को हुई। एक आचार्य के हाथों ऐसा



नृशंस हत्याकांड। साध्वी याकिनी महत्तरा उतावली से चलकर उपाश्रय में आई उपाश्रय के द्वार बंध थे। आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपनी माता समान साध्वी याकिनी महत्तरा से कहा, तत्काल मेरी क्रिया चल रही है, कुछ समय के बाद आना। साध्वी याकिनी महत्तरा ने दृढ़ आवाज से कहा - मुझे आपसे जरूरी काम है। तत्काल द्वार खोलो।

द्वार खुला। साध्वी याकिनी महत्तरा ने विनयपूर्वक आचार्यश्री को वंदन



किया और फिर कहा - आचार्यश्री ! आपके पास प्रायश्चित लेने आई हूँ। मुझे आप प्रायश्चित दीजिए।

स्वयं को योग्य मार्ग बतानेवाली साध्वी याकिनी महत्तरा को आचार्य हरिभद्रसूरि माता मानते थे। ऐसी माता समान साध्वी सामने आकर किस बात का प्रायश्चित लेने आई है यह जानने की श्री हरिभद्रसूरि की जिज्ञासा जाग उठी। याकिनी महत्तरा ने कहा कि अनजाने में चलते - चलते मेरे पाँव से एक मेंढक दब गया। एक पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा से मेरी आत्मा अपार वेदना का अनुभव कर रही है। इसलिए मैं इस हिंसा का प्रायश्चित करना चाहती हूँ, कारण कि यदि आलोचना (दोषों का स्वीकार करके प्रायश्चित लेना) किये बिना मेरी आयु पूरी हो जाय, तब यह पाप मुझे लग जाएगा।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने कुछ ऊँची आवाज में कहा - अहो ! आप पंचेन्द्रिय जीव का ध्यान नहीं रख पायी ? तुम्हें प्रायश्चित करना ही होगा। याकिनी महत्तरा ने प्रायश्चित का सविनय स्वीकार करके कहा, मुझसे अनजाने में हुए एक तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव (मेंढक) की हिंसा का प्रायश्चित तो मिला, परंतु आप 1444 मनुष्यों की जान बूझकर हिंसा कर रहे हो उसका प्रायश्चित क्या होगा ?

साध्वी याकिनी महत्तरा के ये शब्द सुनते ही आचार्यश्री हरिभद्रसूरि का क्रोध शांत हो गया। अध्यापकों एवं विद्यार्थियों को मंत्रबल से बुलाये थे, उन्हें वापस भेज दिया। अपने दुष्कृत्य करने के विचार के प्रायश्चित रूप क्षमा आदि गुणों को प्रकट करें ऐसे 1444 ग्रंथों की रचना की। क्रोध क्षमा में परिवर्तित हो गया। वैर - भावना विद्या में पलट गई।

1440 ग्रंथ रचे जा चुके थे, लेकिन चार ग्रंथ बाकी थे। उस समय उन्होंने चार ग्रंथ के स्थान पर संसार दावानल शब्द से प्रारंभ होती चार स्तुति बनायी, उसमें चौथी श्रुतदेवी की स्तुति का प्रथम चरण रचा, उसी समय उनका आयुष्य पूर्ण हो गया और उनके हृदय के भावानुसार श्री संघ ने गुरु स्तुति रची, तब से तीन चरण श्री संघ द्वारा “झंकारा राव सारा” तपागच्छ परंपरा में पक्खी और संवत्सरी प्रतिक्रमण में उच्च स्वर में बोली जाती है।

उन्होंने महान ग्रंथ रचे हैं, जिसमें श्री नंदीसूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि आगमों पर विशेष टीका भी रची है। षड्दर्शनसम्मुचय, ललित विस्तार, पंचाशक प्रकरण, योग बिंदु, योग विशिका, धर्मबिंदु आदि अनेक प्रसिद्ध ग्रंथ है। ऐसा कहा जाता है कि ललिंग सेठ ने दिये हुए रत्न के प्रकाश में आचार्य हरिभद्रसूरिजी रात्री में ग्रंथ रचना करते थे। ऐसे महान आचार्य का जीवनकाल वीर निर्वाण सं 1227 से 1297 (वि.सं. 757 से 827) तक का माना जाता है।



\* \* \* \*



## साध्वी सुनंदा

पृथ्वीभूषण नगर में कनकध्वज राजा की पुत्री का नाम था सुनंदा। राजकुमारी ने यौवन के आंगन में पदार्पण किया। उसका रूप लावण्य और सौंदर्य गजब का था। एक दिन राज भवन के सामने पान की दुकान पर वासुदत्त का चौथा खूबसूरत पुत्र रूपसेन पान खाने आया।



इतने में सुनंदा की दृष्टि रूपसेन पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही उसके रोम-रोम में काम की ज्वाला धधक उठी। दासी के द्वारा सुनंदा ने रूपसेन को अपने अभिमुख किया। आंखों-आंखों में बात हो गई। सुनंदा ने दासी के द्वारा रूपसेन को कहलाया कि आप कौमुदी महोत्सव के प्रसंग पर राज-महल के पीछे के भाग में पधारना।

कौमुदी महोत्सव के दिन माया-कपट करके सुनंदा ने सिर-दर्द का बहाना बनाया और राज दरबार में स्वयं की दासी के साथ रह गई। राजा-रानी परिवार सहित गांव के बाहर महोत्सव देखने चले गए। कैसी भयंकर है वासना? जिसके कारण सुनंदा असत्य बोली व उसने माया की। इसी प्रकार रूपसेन भी माया

और असत्य का बहाना बना कर घर में ही रह गया। शेष परिवार महोत्सव में चला गया।

रूपसेन सुनंदा से मिलने के मनोरथ से घर से निकल पड़ा। आंख के दोष से प्रेरणा पाकर कायिक दोष सेवन की इच्छा से वह सुनंदा के रूप लावण्य और उसके संगम के विचारों को लेकर हर्षित होता हुआ रास्ते से गुजर रहा था। इतने में एक जीर्ण मकान की दीवार उस पर गिर पड़ी। वह उसी के नीचे दब कर मर गया। कैसी भयंकर विचार श्रेणी में मरा? मिला कुछ भी नहीं। परंतु जीव भाव पाप बांध कर राग दशा को बढ़ाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

इधर रात्रि के समय नगर में शून्यता जान कर महाबल नामक जुआरी, चोरी करने के लिए निकल पड़ा। घूमते-घूमते उसने राज भवन के पृष्ठ भाग में लटकती हुई रस्सी की बनी सीढ़ी देखी। राज भवन में प्रवेश का यह सुंदर साधन है। यह मानकर वह चढ़ने लगा। सुनंदा की दासी रस्सी की आवाज से विचार करने लगी कि जिस रूपसेन के साथ संकेत किया था, वही आया होगा। इतने में रानी ने स्वयं की दासियों को राजकुमारी के स्वास्थ्य पूछने के लिए भेजा। वे भवन की तरफ आ रही थीं। सुनंदा की दासी ने दीपक बुझा दिया। अन्तेवासी दासी ने स्वास्थ्य पृच्छा के लिए आयी हुई दासियों से कह दिया कि राजकुमारी को अब नींद आ गई है, इस प्रकार झूठ कह कर रानी की दासियों को वापस भेज दिया। रस्सी की सीढ़ी से उपर चढ़कर महाबल राजमहल में प्रवेश करने लगा, तभी दासी ने अंधकार में ही उसका सत्कार किया और स्वागत करते हुए मंद स्वर से कहा “पधारिये रूपसेन!” आवाज मत कीजिये। पधारिये! पधारिये! जुआरी विचार करने लगा कि यहां न बोलने में फायदा है। अतः हूँ-हूँ करता हुआ सुनंदा के पास पहुंच





गया और अंधेरे में ही कुकर्म करके चला गया। विधि की विचित्रता से दीवार से दब कर मरा हुआ रूपसेन का जीव सुनंदा की कुक्षि में ही उत्पन्न हुआ।

कुछ समय बीतने पर सुनंदा के शरीर पर गर्भवती के लक्षण दासियों को नजर आने लगे। दासियों ने सुनंदा को क्षार आदि गर्भ गलाने की दवाइयां पिलाई फलस्वरूप रूपसेन का जीव भयंकर वेदना प्राप्त कर कुक्षि में ही मर गया।

वहां से मरकर वह सर्पिणी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और काल क्रम से सर्प बना। इधर सुनंदा का विवाह क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा के साथ हो गया।

एक दिन राजा-रानी बगीचे में घूमने-फिरने के लिए गए। वहां अचानक (रूपसेन का जीव) सर्प आ पहुंचा। सुनंदा को देखते ही सर्प की दृष्टि उस पर स्थिर हो गई। सर्प को इस प्रकार स्थिर दृष्टि वाला देखकर सुनंदा भयभीत हो गई। उसके पति ने सर्प को शस्त्र से मरवा डाला। सर्प आर्तध्यान में मर गया।



वहां से मरकर रूपसेन का जीव कौए के रूप में उत्पन्न हुआ। एक दिन बगीचे में राजा, रानी के साथ संगीत का आनंद ले रहा था। इतने में कौआ सुनंदा को देखकर रागवशात् जोर-जोर से हर्ष पूर्वक काँव-काँव करने लगा। अनेक बार उड़ाने के पर भी वह पुनः पुनः आकर वहीं बैठ जाता था। राजा ने क्रोध में आकर उसे शस्त्र से

मरवा दिया।

कौआ मरकर हंस के रूप में उत्पन्न हुआ। एक कौवे से उस हंस की मित्रता हो गई। एक दिन राजा और उसकी रानी सुनंदा एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। हंस की दृष्टि सुनंदा पर पड़ते ही उसे देखने में हंस मगन हो गया। कौआ तो वीट करके उड़ गया। राजा ने ऊपर हंस को देखते ही गोली मारकर उसे खत्म कर दिया। एक रूपसेन के भव में आत्मा ने आँख के पाप से मोह के संस्कार डाले थे। वे पीछे के भवों में उदित हुए और अंत में कुमृत्यु से मरना पड़ा।

वह हंस मरकर छठे भव में हरिणी की कुक्षि में हरिण के रूप में उत्पन्न हुआ। एक बार राजा अपनी पत्नी के साथ जंगल में शिकार करने गया। घोड़े पर सवार होकर राजा रानी हरिण के पीछे दौड़े। हरिण तीव्र गति से दौड़ रहा था। इतने में उसकी दृष्टि सुनंदा के चेहरे पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही हरिण स्थिर हो गया। उसकी कोमल काया पर राजा ने बाण चलाया और







हरिण का जीव मर कर हथिनी की कुक्षि में पहुंच गया।

राजा के रसोईये ने उसी हरिण का मांस पकाया। राजा और रानी आनंद से प्रशंसा करते हुए मांस खा रहे थे। इतने में दो मुनि वहां से गुजरे। एक ज्ञानी मुनिश्री ने दूसरे मुनिराजश्री से कहा कि कर्म की कैसी विचित्रता। जिस सुनंदा के निमित्त से बेचारा रूपसेन केवल आंख और मन की कल्पना से कर्म बांधकर 7-7 भव से भयंकर वेदना का शिकार हुआ। वही सुनंदा उसका मांस खा रही

है। इस प्रकार मंद स्वर से कहकर सिर हिलाया। यह देखकर राजा-रानी ने मुनिश्री से सिर हिलाने का कारण पूछा। तब मुनि ने स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस रूपसेन के उग्र सुनंदा का स्नेह था, उसी जीव का मांस सुनंदा खा रही है। अतः हमने आश्चर्य से सिर हिलाया। यह सुन कर सुनंदा को खूब आघात लगा। ओह गुरुदेव! मेरे प्रति आंख और मन के पाप करने वाले की 7-7 भव तक ऐसी दुर्दशा हुई है, तो मेरा क्या होगा? मैं तो उससे भी आगे बढ़कर कायिक पाप-पंक से मलिन बनी हुई हूं। मुनिश्री ने कहा कि किये हुए अपराधों की आलोचना करके चारित्र लेने से आत्मा शुद्ध हो जाती है। एवं मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इत्यादि तात्त्विक उपदेश सुनकर सुनंदा ने दीक्षा ग्रहण कर ली। आलोचना प्रायश्चित्त लेकर संयम का पालन करते हुए साध्वी सुनंदा ने अवधिज्ञान प्राप्त किया।



सुनंदा साध्वी एक बार हाथी को प्रतिबोध देने के लिए जंगल में जा रही थी। तब गांव के लोगों ने उन्हें रोकने की कोशिश की, परंतु साध्वीजी किसी की सुने बिना जंगल में गईं। मदोन्मत्त हाथी की दृष्टि सुनंदा पर पड़ते ही वह चित्रवत् स्थिर हो गया। तब साध्वीजी ने कहा - "बुज्झ-बुज्झ रूपसेण" अरे रूपसेन! बोध प्राप्त कर, बोध प्राप्त कर। मेरे प्रति स्नेह रखने से तू इतने दुःखों का शिकार होने पर भी मेरे प्रति स्नेह क्यों नहीं छोड़ता? इस प्रकार के वचन सुनने से हाथी को जाति स्मरण ज्ञान हुआ। उसने पूर्व के 7 भवों की दुःखमय श्रृंखला देखी। वह खूब पश्चाताप करने लगा। अरर! मैंने यह क्या कर दिया? अज्ञान दशावश बनकर व मोह के अधीन होकर आर्तध्यान में मर-मरकर दुर्गति में गया। अब मुझे दुर्गति नहीं देखनी है। इस प्रकार विचार करते हुए हाथी मन में जागृत हुआ। साध्वीजी ने राजा को कहा कि अब यह हाथी तुम्हारा साधर्मिक है। इसका ध्यान रखना। हाथी बेले-तेले वगैरह तप करके देवलोक में गया।

इस कथा से हम समझ सकते हैं कि मन और दृष्टि का पाप कितना भयंकर है? उसकी आलोचना न ली, तो रूपसेन के 7-7 भव बिगड़ गए। आलोचना का कैसा अद्भुत प्रभाव है कि साध्वीजी सुनंदा शल्यरहित शुद्ध संयम पालन कर केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गईं। अतः इस बात को आत्मसात् कर आलोचना लेकर शुद्ध बनना चाहिये।

\*\*\*\*



## परमार्हत महाराजा कुमारपाल

महाराजा कुमारपाल इस कलयुग में एक अद्वितीय और आदर्श राजा थे। वे बड़े न्यायी, दयालु, परोपकारी, पराक्रमी और पूरे धर्मात्मा थे।

चौलुक्य वंश में हुए त्रिभुवनपाल महासत्त्वशाली थे, उनकी धर्मपत्नी कश्मीरादेवी को धर्म के प्रभाव से समग्र पृथ्वी की रक्षा करूं, इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ और नौ महिने पूर्ण होने पर उन्होंने एक सुंदर तंदरुस्त पुत्र को जन्म दिया। उस समय आकाश में देववाणी हुई - यह बालक विशाल राज्य प्राप्त करेगा और धर्म का साम्राज्य स्थापित करेगा। विक्रम संवत् 1149 में कुमारपाल का जन्म दधिस्थली नामक नगरी में हुआ। कुमारपाल के जन्म के समय गुजरात में चौलुक्यवंश का राज्य था। गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह थे। वे अपने चचेरे भाई के लड़के त्रिभुवनपाल को अपने भाई जैसा मानकर उसे मान देते थे, परंतु हेमचन्द्राचार्य से देवी अंबिका के वचन सुने कि - कुमारपाल मेरे राज्य का भोक्ता बनेगा, यह सुनकर उनका मन परिवर्तित हो गया और वैर जागृत होने पर उन्होंने पहले त्रिभुवनपाल को मरवा दिया।



अब वह कुमारपाल को मारने के लिए नए नए षडयंत्र रचने लगा। कुमारपाल अपने प्राण बचाने हेतु अपना राज्य छोड़कर लूक छिपकर घुमने लगे। कभी खाना मिलता तो कभी केवल पानी नसीब होता। इस प्रकार घूमते हुए वे खंभात पहुंचे। वहाँ श्री हेमचन्द्राचार्य से मिलकर, उन्हें वंदन सत्कार करके अपने संकट के अंत का काल पुछा। गुरुदेव ज्ञानी पुरुष थे, उन्होंने भविष्य में घटनेवाला सत्य सुनाकर कुमारपाल को सत्व और धैर्य रखने को कहा। हेमचन्द्राचार्य ने उदायन मंत्री के द्वारा कुमारपाल को गुप्त जगह छुपाकर रखने को कहा एवं जब गुप्तचर उदायन मंत्री के महल पहुंचे तो उन्होंने स्वयं अपने उपाश्रय के तहखाने में कुमारपाल को छुपाकर उसकी मदद की। भविष्य में होनेवाले असंख्य जीवों के उपकार के लाभ का विचार करके गुरुदेव ने इस प्रकार कुमारपाल को बचाया।



गुरुदेव के कथानानुसार सिद्धराज की मृत्यु हुई और वि.सं. 1199 मार्गशीर्ष वद

4 के दिन कुमारपाल को राजसिंहासन प्राप्त हुआ। इस प्रकार पचास साल के बाद कुमारपाल को पाटण का राजपाठ मिला। राज्य पाने के पश्चात् उन्होंने स्वयं के आपत्तिकाल में सहायता करनेवाले सभी को याद किया, प्रत्येक को बुलाकर उचित उपहार दिए। गुरुदेव हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल के प्राण एक बार





नहीं, अनेक बार बचाए थे। और वे यही मानते थे कि गुरुदेव के प्रताप से ही उन्हें यह राजगद्दी मिली है। ऐसी गुरु भक्ति व धर्म पर अटूट श्रद्धा के कारण ही उनका परमार्हत विरुध्वप सार्थक था।

एक बार जब देवपतन में समुद्र तट पर स्थित सोमनाथ के मंदिर के जीर्णोद्धार का कार्य जब तेजी से नहीं बढ़ रहा था तो राजा कुमारपाल ने गुरुदेव हेमचन्द्राचार्य से उपाय बताने की विनंती की। गुरुदेव ने कहा - कोई व्रत धारण करो, व्रत पालन से पुण्य बढ़ता है और कार्य जल्दी पूरा होता है। कुमारपाल ने प्रसन्न होकर मांसाहार और मदिरापान, जीवनपर्यंत छोड़ने का व्रत लिया। इस प्रकार श्री हेमचन्द्राचार्य के संपर्क से कुमारपाल महाराजा ने अपना जीवन ही नहीं बल्कि समग्र गुजरात में भी अहिंसा धर्म का प्रचार किया। उनके अपने राज्य में....



\* ग्यारह लाख घोड़ों को, ग्यारह सौ हाथियों को व अस्सी हजार गाय आदि को पानी छानकर ही पिलाया जाता था।

\* खुद के मुँह से मार यह शब्द भी निकले तो दूसरे दिन उपवास करते थे।

\* झूठ बोले जाने पर दूसरे दिन आयंबिल करते थे।



\* चातुर्मास में एकासना करते और सिर्फ आठ द्रव्य लेते थे।

\* चातुर्मास में मन - वचन - काया से ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, भंग होने पर दूसरे दिन उपवास करते थे।

\* उन्होंने गुरुदेव के पास बारह व्रत लिये थे।

\* गुरुदेव के पास बैठकर ग्रन्थों का अध्ययन करते थे और बड़ी उम्र में भी संस्कृत व्याकरण पढ़ते थे।



\* प्रतिदिन परमात्मा के दर्शन - पूजन व स्तवना करते थे। उनके साथ 1800 श्रेष्ठि सामायिक करने हेतु जाते थे।



\* समग्र गुजरात में सारे कत्लखाने बंद करवा दिए इसलिए कोई बैल - गाय - बकरा - सूअर आदि पशुओं की हत्या



नहीं करता था, अपितु कोई जूँ को भी नहीं मार सकता था।

किसी एक सेठ ने जानबूझकर जूँ को मार डाला, अतः कुमारपाल को इसकी सूचना मिलने पर, उसको बुलाकर एक जिनमंदिर बनाने का दण्ड दिया, जो मंदिर पाटण में युकाविहार नाम से प्रसिद्ध हुआ।



हेमचन्द्राचार्य से प्रतिबोधित कुमारपाल राजा ने तारंगाजी, खंभात, शत्रुंजय आदि नगरों में 1444 नए जिन चैत्य बनवाकर उनके शिखरों पर सोने के दण्ड व कलश स्थापित किए थे। पाटण में भी अपने पिताश्री त्रिभुवनपाल की याद में त्रिभुवन विहार नामक जिनालय स्वद्रव्य से बनाया था। 16,000 जिनालयों का जिर्णोद्धार कराया। 7 बड़े छःरी पालित संघ (बड़ी तीर्थयात्रा) निकाली जिसमें



से पहली तीर्थयात्रा में नौ लाख के नौ रत्नों से प्रभु के नौ अंगों की पूजा की। अठानवें लाख का धन उचित दान में व्यय किया। इक्कीस ज्ञान भंडार बनवाये। अपुत्रकों का बहत्तर लाख धन छोड़ दिया। सोने की स्याही से आगमग्रन्थ लिखवाये। छत्तीस हजार श्लोक प्रमाण त्रिषृष्टिशलाकापुरुष चरित्र लिखवाकर उसे हाथी पर रखकर पूरे पाटण में जूलूस निकाला। सात सौ लहियों से (लेखनीकारों से) गुरुदेव के ग्रन्थ लिखवाकर ग्रन्थ ज्ञान भंडार में रखवाये। साधर्मिकों के लिए चौदह करोड़ रुपये खर्चे।



श्री हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल महाराजा को शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा का फल बताया। कुमारपाल ने प्रसन्न होकर यात्रा करने की हाँ कही। बड़े संघ के साथ पैदल यात्रा जाने के लिए तेजी से तैयारियाँ होने लगी मगर न सोचा हुआ एक विघ्न आया। गुप्तचरों ने आकर राजा कुमारपाल को कहा :- राजा कर्ण विशाल सैन्य के साथ गुजरात की तरफ चला आ रहा है। तीन दिन में वह पाटण की सीमा पर पहुँचेगा। राजा को कर्ण का कोई भय न था। ऐसे कई कर्ण आवे तो भी मुकाबला कर सके ऐसे थे, परंतु उसे चिंता हुई तीर्थयात्रा की।

कुमारपाल महाराजा यात्रा पर निकल जाय तो उनकी अनुपस्थिति का लाभ लेने के लिए राजा कर्ण ने आक्रमण की योजना बनायी थी। कुमारपाल महाराजा ने गुरुदेव का ही मार्गदर्शन लेने का निर्णय लिया, क्योंकि तीर्थयात्रा करनी ही थी। और तीर्थयात्रा के लिए निकले तो राजा कर्ण गुजरात जीत ले।

वाग्भट्ट मंत्री के साथ कुमारपाल राजा ने उपाश्रय पर आकर इस बारे में सलाह माँगी। आचार्य ने थोड़ी देर आँखे बंद करके ध्यान धरा और कुमारपाल राजा को कहा, चिंता छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए समयानुसार निकलने की तैयारी करो। कर्ण की चिंता छोड़ दो।

राजा और मंत्री महल में तो आये परंतु समझ न सके कि किस प्रकार आचार्यश्री यह प्रश्न हल करेंगे। कुमारपाल राजा सोचते रहे। आचार्यश्री की आज्ञानुसार धर्मध्यान में मग्न थे। सुबह होते ही महल में उन्हें अपने गुप्तचर ने आकर समाचार दिया कि राजा कर्णदेव तेजी से पाटण की तरफ बढ़ रहा था। वह हाथी पर



बैठा हुआ था। रात्री होने से कर्ण को हल्का सा नींद का झोका आ गया। इतने में उसके गले का महामूल्यवान हार एक पेड की डाली में फंस गया, हाथी तीव्र वेग से चल रहा था इस कारण गले का हार उसका फांसी का फंदा बन गया और थोड़ी ही क्षणों में राजा का शव पेड के साथ लटकता हुआ सैन्य को दिखने मिला। सैन्य हताश हो गये और आये थे उसी रास्ते वापिस लौट गये।

यह समाचार सुनकर कुमारपाल राजा आश्चर्यमुग्ध हो गये। श्री हेमचन्द्राचार्य की अथाग कृपा का परिणाम वह समझ सके। तय किये हुए मुहूर्त पर संघ निकले।

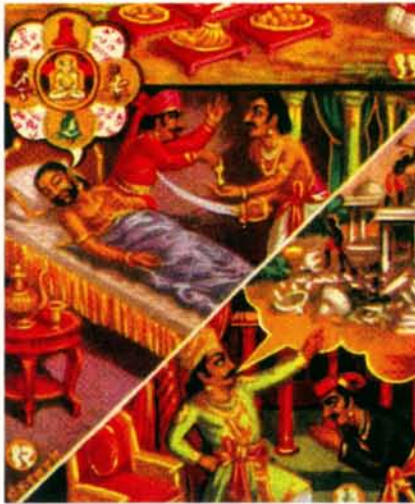
शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा करके कुमारपाल और संघ के हजारों लोग धन्य बन गये।

जिस प्रकार कुमारपाल के हृदय में हेमचन्द्राचार्य बसे हुए थे वैसे ही हेमचन्द्राचार्य के मन में भी कुमारपाल बसे थे।

धर्म के महान कार्य कुमारपाल करते थे। अट्टारह देशों में अहिंसा फैलाकर उन्होंने हजारों जिन मंदिर बनवाये। अनेक ज्ञान भंडकार बनवाये और लाखों दुःखी साधर्मिक जैनों को सुखी बनाया।

राज-क्षेत्र में षड्यंत्रों की तौबा। महाराजा कुमारपाल भी षड्यन्त्र का ही शिकार हुए।

हेमचन्द्राचार्य के कालधर्म पाने के छः महिने बाद कुमारपाल पर विष प्रयोग किया गया, जो सत्ता के सिंहासन को हथियाने हेतु लालचित पापी अजयपाल की घिनौनी चाल थी। आहिस्ता, आहिस्ता जहर समूचे बदन में फैलने लगा, पलक में ही सही वस्तुस्थिति का अंदाजा आते ही उन्होंने कोषाध्यक्ष से खजाने में रहा हुआ विषहर मणि लाने हेतु कहा। कुमारपाल यद्यपि मौत से लेश मात्र डरते नहीं थे, फिर भी इस तरह बेमौत से मरना भी नहीं चाहते थे क्योंकि यह अतिदुर्लभ मानव जन्म पुनः पुनः पाना लौहे के चने चबाने से कोई कम नहीं, इसीलिए इस तरह आसानी से मरने की बजाय जिंदा रहकर धर्म को क्यों नहीं साध लेना। मगर रे ! दुर्भाग्य ! राजेश्वर ! विषहर मणि चुरा ली गई है, यह सुनकर भवितव्याता को ध्यान में रखते हुए, दानीश्वर कुमारपाल ने वीर ! वीर ! जपते हुए अपने प्राण छोड़ दिये।



राजा कुमारपाल का भतिजा अजयपाल राजा बनते ही कुमारपाल राजा के द्वारा जगह - जगह पर बनाये गये जिनालय आज खंडहर के रूप में परिवर्तित हो गये, चूंकि अन्याय के खिलाफ विद्रोह करने की शक्ति प्रजा में अभी तक उभरी नहीं थी। जिस पाटण में हजारों साधु - साध्वियों के दर्शन होते थे वहाँ

अब एक साधु - साध्वी का दर्शन भी दुर्लभ हो गया। मंदिर मूर्ति बिना और उपाश्रय बिना साधु - साध्वी के बन गये।

इस तरह तन - मन - धन व वचन से जैन शासन की अद्वितीय प्रभावना करके स्व पर का कल्याण करनेवाले परमार्हत महाराजा कुमारपाल ने अपना जन्म सफल बनाया।





## अंजना सती

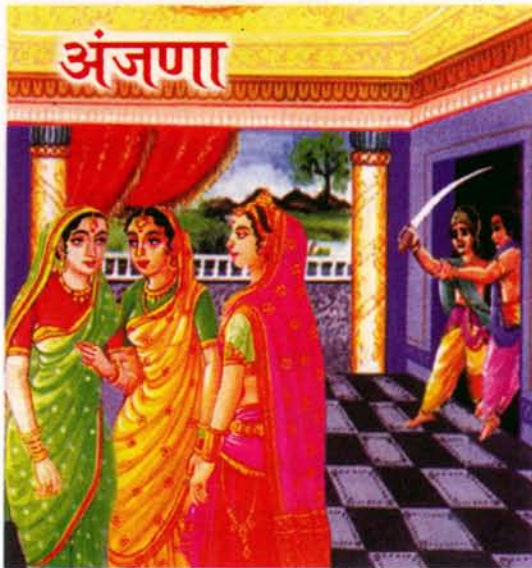
अंजना महेन्द्रपुर के महाराजा महेन्द्र की पुत्री थी। इनकी माता का नाम हृदयसुन्दरी था। महाराजा महेन्द्र के प्रश्नकीर्ति आदि सौ पुत्र तथा एक पुत्री राजकुमारी अंजना थी। जब रुपवती अंजना के विवाह का प्रसंग आया, तब मंत्री ने राजा से कहा - राजन् ! राजकुमारी के लिए बहुत खोज करने पर दो राजकुमार ही समुचित जचे थे। एक था हिरण्याभ राजा का पुत्र विद्युतप्रभ तथा दूसरा विद्याधर महाराजा प्रह्लाद का पुत्र पवनंजय दोनों में अंतर यह था कि जहाँ विद्युतप्रभ की आयु केवल अठारह वर्ष की ही शेष थी, वह चरमशरीरी भी था, वहाँ पवनंजय दीर्घजीवी था।

राजा ने दीर्घजीवी और सुयोग्य समझकर पवनंजय के साथ राजकुमारी का संबंध कर दिया। यथा समय पवनंजय की बारात लेकर महाराज प्रह्लाद वहाँ आ पहुँचे। विवाह में केवल तीन दिन की देरी थी कि एक दिन पवनंजय के मन में अपनी भावी पत्नी को देखने की उत्सुकता जागी। बस, फिर क्या था, अपने मित्र प्रहसित को लेकर अंजना के राजमहलों के पास पहुँचकर दीवार की ओट में छिपकर अंजना को देखने लगा। उस समय अंजना अपनी सखियों से घिरी बैठी थी। सखियाँ भी अंजना के सामने उसके भावी पति की ही चर्चा कर रही थी। चर्चा में जब एक सखी पवनंजय की सराहना कर रही थी तो दूसरी विद्युतप्रभ की प्रशंसा कर रही थी। उस समय अंजना के मुँह से सहसा निकला - विद्युतप्रभ को धन्य है जो भोगों को त्यागकर मोक्ष प्राप्त करेगा। अंजना के ये शब्द पवनंजय के कानों में काँटे से चुभे। सोचा - हो न हो, यह विद्युतप्रभ के प्रति आकर्षित है, अन्यथा मेरी अवगणना करके उसकी सराहना क्यों करती ? एक बार तो मन में आया कि इसका अभी परित्याग कर दूँ, पर दूसरी ही क्षण सोचा - अभी इसे छोड़कर चला जाऊँगा तो इससे मेरे पिता का वचन भंग होगा, मेरे कुल का अपयश होगा। अच्छा यह रहेगा की शादी करके मैं इसका परित्याग कर दूँ। यही सोचकर अपने निर्णय को मन - ही - मन समेटे अंजना से विवाह करके अपने नगर में आ गया, पर अंजना के महल में पवनंजय ने पैर भी नहीं रखा। पति की पराङ्मुखता से अंजना का व्यथित होना स्वाभाविक ही था, पर वह पवनंजय के रुठने का कारण समझ नहीं पा रही थी। वह सोचती - मेरी ओर से कोई त्रुटि हो गई हो, ऐसा मुझे लगता तो नहीं है। वह बहुत सोचती, किंतु पति की नाराजगी का कोई कारण उसकी समझ में न आता।

एक बार अंजना के पिता के यहाँ से जेवर, मिष्ठान और राजसी पोशाक पवनंजय के लिए आए। अंजना ने वह सामग्री पवनंजय के पास दासी के हाथ भेजी। पवनंजय देखकर आग बबूला हो उठा। कुछ वस्तुएँ नष्ट कर दी और कुछ वस्तुएँ चाण्डालों को देकर अंजना के प्रति आक्रोश प्रदर्शित किया। दासी ने जब आकर सारी बात अंजना से कही, तब उसके दुःख का पार नहीं रहा। अपने भाग्य को दोष देती हुई और पति के प्रति शुभकामना व्यक्त करती हुई वह समय बिताने लगी। यों बारह वर्ष पूरे हो गये। एक बार लंकेश्वर रावण ने राजा प्रह्लाद से कहलाया कि इन दिनों वरुण काफी उद्वण्ड हो गया है, उस पर काबू पाना है, अतः आप सेना लेकर वहाँ जाइये। प्रह्लाद जब जाने लगे तब अपने पिता को रोककर पवनंजय स्वयं युद्ध में जाने के लिए तैयार हुए। माता - पिता को प्रणाम कर जाने लगे, परंतु विदा लेने अंजना के महल में फिर भी नहीं आये। व्यथित हृदय अंजना पति को समरांगण में जाते समय शकुन देने के लिए हाथ में दही से भरा स्वर्ण कटोरा लिए द्वार के पास एक ओर खड़ी हो गई। पवनंजय ने जब उसे देखा तब उससे



न रहा गया। सभी तरह से अपमानित करता हुआ बुदबुदाया - अभी तक यह कुलटा ने मेरा पीछा नहीं



छोड़ा है। ऐसे समय में भी अपशकुन करने चली आयी। अंजना आँखों में आँसु बहाती हुई महल में चली गई, फिर भी पति के प्रति उसने कोई अनिष्ट कामना नहीं की, केवल अपने भाग्य को ही दोष देती रही। पवनंजय वहाँ से आगे चले। मार्ग में एक वृक्ष के नीचे रात्री विश्राम किया। अधिक तनाव होने से रात का पहला प्रहर बीतने पर भी नींद नहीं आ रही थी। लेटे - लेटे करवटें बदलते रहे। उस समय एक चकवा - चकवी का जोड़ा अलग अलग टहनियों पर आ बैठा था। चकवी अपने साथी के वियोग में बुरी तरह करुण क्रन्दन कर रही थी। उसका दिल बहलाने वाला आक्रन्दन सुनकर पवनंजय के दिल में उथल - पुथल मच गयी। चिंतन ने मोड़ लिया। सोचा एक रात के प्रिय - वियोग में ही इस चकवी की यह दशा है तो उस बेचारी अंजना पर क्या बीतती होगी, जिस

निरपराधि का बारह वर्षों से मैंने बिल्कुल बहिष्कार कर रखा है? मेरा मुँह भी उसने पूर्णत नहीं देखा है। अतः मुझे उससे मिलना चाहिए। पवनंजय ने अपने मित्र प्रहसित से सारी मनोव्यथा कही। मित्र ने भी उसकी पवित्रता में कोई सन्देह नहीं करने को कहा तथा यह भी कहा - इतना निरादर सहकर भी आपके प्रति कल्याण कामना लिए शकुन देने आयी, इससे अधिक और उसके सतीत्व का क्या प्रमाण होगा ? मित्र को साथ लेकर पवनंजय छावनी से विद्या बल द्वारा आकाशमार्ग से चल पड़े, और अंजना के महल में एक प्रहर में ही पहुँच गये। अंजना उन्हें देखते ही हर्षित हो गई। वह खुशी के आँसू बहाने लगी। पवनंजय ने अतीत को भूल जाने के लिए कहा। शेष रात्री महलों में रहकर पवनंजय प्रातःकाल छावनी में जाते समय अपने हाथ की अंगूठी निशानी के रूप में देकर चले गये।

सात महीने युद्ध में लग गये, पवनंजय वापस नहीं आये। पीछे से अंजना को गर्भवती देखकर उसकी सास केतुमती आग बुबुला हो उठी। उसे व्यभिचारिणी कलंक दे दिया गया। अंजना ने बहुत विनम्रता से सारी बात कही, पर माने कौन ? प्रह्लाद ने देश-निष्कासन का आदेश दे डाला। पवनंजय जब तक नहीं आ जाये, तब तक अंजना को वहीं रखने को कहा, परंतु उसकी इस प्रार्थना को भी स्वीकार नहीं किया गया। काले कपड़े पहनाकर काले रथ में बिठाकर केतुमती ने अंजना को उसके पीहर महेन्द्रपुर की ओर वन में छोड़ आने के लिए सारथी को आदेश दे दिया। सारथी भी उसे जंगल में छोड़ आया।

अंजना महेन्द्रपुर की ओर चली। अंजना अपनी सखी तुल्य दासी वसंततिलका को लेकर पीहर की ओर बढ़ी। कष्ट के समय पीहर में आश्रय पाने में अंजना संकोच कर रही थी, पर वसंततिलका का आग्रह से वहाँ पहुँची। काले वस्त्रों में अंजना को देखकर, माता - पिता, भाई भाभीयाँ, यहाँ तक की नगर निवासी भी



उसे रखना तो दूर, पानी पिलाने को भी तैयार नहीं हुए।

अंजना अपने कृतकर्मों को दोष देती हुई अपनी सखी के साथ जंगल में जा पहुँची। वहाँ एक गुफा का आश्रय लेकर धर्मध्यान में अपने दिन बिताने लगी। गुफा में ही अंजना ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। एक बार दासी जल लेने गई थी। वहाँ उसने मार्ग में एक मुनि को कायोत्सर्ग में खड़े देखा। उसने अंजना को वह बात बताई, इसलिए अंजना उनके पास जाकर नमस्कार करके बैठी। कायोत्सर्ग पूर्ण करके मुनि ने धर्मदेशना दी। वह सुनकर अंजना ने अपने पर पड़े दुः का कारण पूछा। मुनि ने अवधिज्ञान से उसका पूर्वभव बताया “हे अंजना ! किसी गांव में एक धनवान श्रेष्ठि की तू मिथ्यात्वी स्त्री थी। तेरी दूसरी एक सपत्नी थी वह परमश्राविका थी। वह प्रतिदिन जिन प्रतिमा की पूजा करने के बाद भोजन करती थी। उस पर द्वेष धारण करती हुई एक दिन तूने उसकी जिन प्रतिमा को कूड़े में छिपा दिया। इस कारण जिनपूजा न हो सकने से उसने मुख में जल भी नहीं डाला और बड़ी आकुलव्याकुल हो गई। वह हर किसी को प्रतिमा के बारे में पूछने लगी, इतने में कूड़े में पड़ी प्रतिमा कोई बताने लगा, पर तूने न दिखाने के हेतु से उस पर धूल डाली। इस प्रकार बारह मुहूर्त तक जब वह बहुत दुःखी हुई तब दया बताकर तूने उसे प्रतिमा लाकर दी। इस पाप के कारण तेरे पति का तुझसे बारह वर्ष का वियोग हुआ था। अब तेरे कर्मक्षीण हो जाने से तेरा मामा यहाँ आकर तुझे अपने घर ले जाएगा। वहाँ तेरा स्वामी भी तुझे मिलेगा। इस प्रकार मुनि कर रहे थे कि एक विद्याधर उपर से गुजर रहा था। उसका विमान वहाँ स्वलित हुआ। विद्याधर ने उसका कारण ज्ञानने के लिए नीचे देखा तो अपनी भानजी अंजना को पहचान लिया, इसलिए तत्काल नीचे उतरकर दासी एवं पुत्र सहित अंजना को अपने विमान में बिठाकर आकाशमार्ग से चल पड़ा। अंजना का बालक बड़ा चपल और उग्र पराक्रमी भी। उसने चलते विमान के घूंघरु की आवाज सुनी। बालक को घूंघरु लेने की जिज्ञासा हुई। वह अपना हाथ बढ़ा रहा था कि आकस्मिक रूप से विमान में से नीचे गिर पड़ा। वह देखकर अंजना को बड़ा दुःख हुआ और आक्रंद स्वर में रुदन करते हुए कहा - अरे प्रभु ! यह क्या गजब ! अरे ! हृदय क्या वज्र से घड़ा हुआ है कि वह पतिवियोग से टूटा नहीं और अब पुत्रवियोग से भी खण्डित नहीं होता है ? इतनी ऊँचाई से गिरा पुत्र क्या बचनेवाला है ? यह सुनकर उसका मामा पृथ्वी पर उतरा। एक शिला की रेत पर पड़े बालक को ज्यों त्यों उठाकर उसकी माता को दिया। बाद में वह विद्याधर अंजना को बालक सहित अपने घर छोड़कर अपने किसी कार्यवश अन्य स्थानक पर चल दिया। अंजना के पुत्र का नाम रखा हनुमान।

बारह महीनों तक पवनंजय और वरुण का युद्ध चलता रहा। वरुण को परास्त कर विजय दुन्दुभि बजाते हुए पवनंजय अपने नगर में आये। माता - पिता से मिले, परंतु अंजना को नहीं देखकर बात का भेद जानना चाहा। बात का भेद जानने पर पवनंजय को भारी अनुताप हुआ। उन्होंने अंजना के न मिलने तक कुछ भी नहीं खाने - पीने की प्रतिज्ञा की। चारों ओर अंजना का पता लगाने के लिए लोग दौड़े। अंत में हनुपुर नगर से धूमधाम के साथ अंजना को आदित्यपुर नगर में ले आये। सास - ससुर आदि पुलकित हो उठे और सबने अपने किये हुए कार्य पर क्षमायाचना की। हनुमान को देखकर सभी पुलकित हो उठे। एक बार बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतस्वामी के तीर्थ के कोई मुनि वहाँ पधारे। उनकी देशना सुनकर पवनंजय और अंजना ने वैराग्य पाकर दीक्षा ली। बालक हनुमान बड़ा होकर वीर हनुमान बना और श्री रामचंद्र की सेना का अध्यक्ष बना। पवनंजय मुनि और सती अंजना साध्वी निरतिचार व्रत पालन करके मोक्षगामी बने।

\*\*\*



प्रस्तुत पुस्तक तैयार करने में निम्नलिखित ग्रंथों का एवं पुस्तकों का आधार लिया है।  
अतः उन उन पुस्तकों के लेखक, संपादक एवं प्रकाशकों के हम सदा ऋणी रहेंगे

- |   |  |
|---|--|
| 1. स्थानांग सूत्र                               |  |
| 2. उत्तराध्ययन सूत्र                            |  |
| 3. आवश्यक सूत्र                                 |  |
| 4. तत्त्वार्थ सूत्र                             |  |
| 5. नवतत्त्व प्रकरण                              |  |
| 6. पच्चक्खाण भाष्य                              |  |
| 7. योगशास्त्र                                   | - पंन्यास श्री पद्मविजयजी म.सा.        |
| 8. जैन धर्म के नवतत्त्व                         | - साध्वी डॉ. श्री धर्मशीलाश्रीजी म.सा. |
| 9. जैन विद्या के विविध आयाम                     | - डॉ. सागरमलजी, अभिनंदन ग्रंथ          |
| 10. प्रवचन सरोद्वार                             | - साध्वी श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.     |
| 11. प्रथम कर्मग्रंथ                             | - मुनि श्री मनीतप्रभसागरजी म.सा.       |
| 12. कर्म सहिता                                  | - साध्वीजी श्री युगलनिधि म.सा.         |
| 13. प्रतिक्रमण सूत्र<br>(सूत्र - चित्र - आलंबन) | - आ. श्री भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा.     |
| 14. जैन कथा कोष                                 | - मुनि छत्रमल                          |
| 15. चलो जिनालय चलें                             | - श्री हेमरत्नविजयजी                   |
| 16. कही मुरझा न जाएँ                            | - आचार्य श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी म.सा.  |
| 17. जैन रत्नसार                                 | - प.पू. यति श्री सूर्यमल्लजी           |
| 18. जैन विद्या                                  | - बी.ए. पाठ्यक्रम जैन विश्व भारती      |
| 19. ग्लोरी ऑफ जैनिसम्                           | - कुमारपाल देसाई                       |

## \* परीक्षा के नियम \*

परीक्षा में भाग लेनेवाले विद्यार्थियों को फॉर्म भरना आवश्यक हैं।  
कम से कम 20 परीक्षार्थी होने पर परीक्षा केन्द्र खोला जा सकेगा।

- \* पाठ्यक्रम : भाग 1 से 6 तक
- \* योग्यता : ज्ञानार्जन का अभिलाषी
- \* परीक्षा का समय : फरवरी, जुलाई / अगस्त
- \* श्रेणी निर्धारण
  - विशेष योग्यता : 75% से 100%
  - प्रथम श्रेणी : 60% से 74%
  - द्वितीय श्रेणी : 46% से 59%
  - तृतीय श्रेणी : 35% से 45%
- \* परीक्षा फल (Results) : परीक्षा केन्द्र पर उपलब्ध रहेगा/  
[www.adinathjaintrust.com](http://www.adinathjaintrust.com)
- \* प्रमाण पत्र : संबंधित परीक्षा केन्द्रों पर प्रमाण पत्र  
भिजवाए जाएंगे।
  - 1. Certificate Degree
  - 2. Diploma Degree



# Notes

# Notes



# Notes



## उत्तम भाव रखो

उत्तम भाव दान-शील-तप का प्राण है।  
नमक रहित भोजन, सुगन्ध रहित पुष्प,  
पानी रहित सरोवर की तरह...  
भाव रहित दान-शील-तप सफल नहीं होते।  
भाव से ही परम ज्ञान मिलता है।  
भाव से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।  
भाव से ही भव का नाश होता है।  
दान के पीछे धन की ममता हटाने का भाव रखो।  
शील के पीछे विषय-वासना घटाने का भाव रखो।  
तप के पीछे खाने की लोलुपता मिटाने का भाव रखो।  
धर्म के पीछे जन्म-मरण से छूटने का भाव रखो।  
मरुदेवी माता ने भाव से ही केवलज्ञान और मोक्ष पाया।  
भरत चक्रवर्ती ने भाव से ही कांच के महल में केवलज्ञान पाया।  
इलाचीकुमार भावना भाते-भाते केवलज्ञानी बन गये।  
प्रत्येक धर्मक्रिया करते हुए उत्तम भाव रखना चाहिये।  
भाव रहित क्रियाएं अंक रहित शून्य के समान हैं।

